



मानव अधिकार पत्रिका

मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग का
त्रैमासिक प्रकाशन

वर्ष 2014

अंक - द्वितीय

संरक्षक

जस्टिस ए.के. सक्सेना

कार्यकारी अध्यक्ष

वीरेन्द्र मोहन कँवर

सदस्य

विनोद कुमार, सचिव

ए.के. जैन, अतिरिक्त पुलिस महानिदेशक

एच.के. दुबे, रजिस्ट्रार (लॉ)

प्रकाशक

कुलदीप जैन

उपसचिव

सम्पादक

रोहित मेहता

संयुक्त संचालक, जनसम्पर्क

सह सम्पादक

संजय कुमार विश्वकर्मा

शोध अधिकारी

सम्पर्क

मध्यप्रदेश मानव अधिकार आयोग

पर्यावास भवन, अरेरा हिल्स,

पुरानी जेल पहाड़ी मार्ग, भोपाल (म.प्र.)

फोन : 0755-2572034

फैक्स : 0755-2574028

E-mail : mphrc@sancharnet.in

Website : www.mphrc.nic.in

आकल्पन : मध्यप्रदेश माध्यम

मानव अधिकार पत्रिका

द्वितीय अंक

वर्ष : 2014



मानव अधिकार पत्रिका में व्यक्त विचार लेखकों के अपने हैं,
यह जरूरी नहीं कि आयोग उनसे सहमत हो।



**पत्रिका में प्रकाशित आलेखों का पुर्नप्रकाशन आयोग
का संदर्भ देते हुए किया जा सकता है।**



► इस बार...

► अनुक्रमणिका

क्र. विषय	पृष्ठ क्रमांक
1. झुगगी और तंग बस्तियों की हकीकत	5
2. बढ़ती जनसंख्या, बढ़ती चुनौतियां	7
3. कीटनाशक के चलते लुप्त हो रहे पक्षी	9
4. बिखरते समाज की इकाई परिवार को बचाना होगा	11
5. समाज की भागीदारी बिना जल संकट का समाधान नहीं	13
6. गांवों के हित टटोलने से मत चूकिए	15
7. संकट आने से पहले हो जल की चिंता	18
8. ग्लोबलाइजेशन की चुनौती है सुशासन	21
9. आधुनिक विकास निगल रहा है आदिवासीयों का भोजन	24
10. कितनी सुरक्षित महिलाएं?	26
11. महिला मुद्दों का हिस्सा हैं बालिकाएं	28
12. निरक्षरता का क्या करें	31
13. असमानता बढ़ती शिक्षा	32
14. खुद के बिकने का दर्द	34
15. क्या गांवों के खत्म होने की प्रक्रिया शुरू हो गई	35
16. विकास और पर्यावरण का अंतर्संबंध	37



क्र. विषय	पृष्ठ क्रमांक
17. नदियों की दुर्दशा से प्रभावित जिंदगी	39
18. बदलना होगा कार्यस्थलों का वातावरण	41
19. अनाजों में जहर, दूध विषैला	43
20. घर में घुस रहा प्रदूषण का कहर	47
21. देश की वर्तमान समस्या-युवाओं को रोजगार	49
22. QUALITY EDUCATION IN INDIA	52
23. AN ARMY OF TEACHERS	54
24. OUTSOURCING ENVIRONMENT DECISIONS	56
25. PUTTING A FULL STOP TO DEATH SENTENCE	58
26. BUILDING BETTER UNIVERSITIES	61
27. BEYOND SMALL MERCIES	64
27. FIGHTING SEX SELECTION	67
28. DOCTOR - PATIENT RELATIONS	70
29. EDUCATION SHOULD BE A PRIORITY IN 2014	72
30. BUILDING OUR NATURAL CONSCIOUSNESS	74
31. CURBING MEDICAL NEGLIGENCE?	77
32. TEACHERS SHOULD BE IN TUNE WITH TIMES	80
33. FULFILLING THE PROMISE OF POTABLE WATER	82
34. BLUEPRINT FOR EDUCATED INDIA	84
35. CHILD ABUSE: PREVENTION IS CURE	87
36. VICTIMS, VICTIMIZATION AND VICTIMOLOGY	90



झुग्गी और तंग बस्तियों की हकीकत

● रवि शंकर

एनएसएसओ के मुताबिक, देश की कुल साढ़े तैंतीस हजार झुग्गी बस्तियों में 23 फीसद (7723) अकेले महाराष्ट्र में हैं। आंध्रप्रदेश 13.5 फीसद (4539) के साथ दूसरे और 12 फीसद के साथ पश्चिम बंगाल तीसरे स्थान पर है। इनमें से 41 फीसद झुग्गियां अधिसूचित हैं और शेष 59 फीसद गैर अधिसूचित स्लम हैं। अधिसूचित बस्तियों में वे इलाके आते हैं, जिनकी पहचान संबंधित नगर निकाय, स्थानीय निकाय या विकास प्राधिकरणों द्वारा की गई हैं।

राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन (एनएसएसओ) द्वारा देश की झुग्गी बस्तियों के संबंध में जारी ताजा आंकड़े भले ही आशावादी तस्वीर पेश करते हैं कि हालत सुधर रहे हैं किंतु इन पर बहुत संतुष्ट नहीं हुआ जा सकता। देश की आबादी का बड़ा हिस्सा अब भी स्वच्छ पेयजल और शौचालय जैसी मूलभूत सुविधाओं से वंचित है। हकीकत में पाँच सालों में देश के शहरों को झुग्गी-झोपड़ी मुक्त बनाने का भारी भरकम एजेंडा सेट करने वाली संप्रग-2 सरकार अपने लक्ष्य को एक तिहाई भी नहीं छू पाई है। उसे देखते हुए यह कहने में हर्ज नहीं कि उसने झुग्गी मुक्त देश का सपना आधे-अधूरे मन से ही देखा था। इस सरकार का दूसरा कार्यकाल खत्म होने जा रहा है लेकिन अब भी ज्यादातर शहरों में हजारों की संख्या में झुग्गी बस्तियां आबाद हैं। एनएसएसओ के 69वें नए सर्वे के मुताबिक, देश के विभिन्न शहरों में 88 लाख परिवार अब भी झुग्गियों में रहने को मजबूर हैं।

2009 में केंद्र में संप्रग-2 की सरकार ने अगले पाँच सालों में देश के शहरों को स्लम मुक्त बनाने का महत्वाकांक्षी एजेंडा तय किया था। उस वक्त तक नेशनल सैंपल सर्वे ऑफिस के मुताबिक देश के शहरों में स्लम (झुग्गी बस्ती) की संख्या करीब 49000 थी। स्पष्ट है, पांच साल बीतने के बाद उसी एनएसएसओ के ताजा सर्वे के मुताबिक इस अवधि में सिर्फ 32 फीसद झोपड़पट्टियां ही कम हो पाई हैं।

इस संगठन के अनुसार अकेले देश के 12 राज्यों में 33 हजार से अधिक झुग्गी बस्तियां हैं और इनमें से आधी से अधिक अवैध की श्रेणी में हैं। यानी इन झुग्गी बस्तियों की अब तब सुधि ही नहीं ली गई है। शहरी इलाकों को झुग्गी बस्तियों से मुक्त करने का अभियान जिस तरह चल रहा है, उसे देखते हुए कहना कठिन है कि देश को ऐसी बस्तियों से मुक्ति मिल सकेगी। इसके उलट शहरी इलाकों में तेजी से नई-नई झुग्गी बस्तियां बढ़ती जा रही हैं।

एनएसएसओ के मुताबिक, देश की कुल साढ़े तैंतीस हजार झुग्गी बस्तियों में 23 फीसद (7723) अकेले महाराष्ट्र में हैं। आंध्रप्रदेश 13.5 फीसद (4539) के साथ दूसरे और 12 फीसद के साथ पश्चिम बंगाल तीसरे स्थान पर है। इनमें से 41 फीसद झुग्गियां अधिसूचित हैं और शेष 59 फीसद गैर अधिसूचित स्लम हैं। अधिसूचित बस्तियों में वे इलाके आते हैं, जिनकी पहचान संबंधित नगर निकाय, स्थानीय निकाय या विकास प्राधिकरणों द्वारा की गई हैं।

जो भी हो, गंदी बस्तियां देश के हर शहर में हैं और योजनाकार, प्रशासक और नेता इस समस्या को सुलझाने में नाकाम रहे हैं। जिन संस्थाओं को यह काम दिया गया था कि वे शहरीकरण को व्यवस्थित करेंगे, उन्होंने इस समस्या को कई गुना बढ़ा दिया। इससे पता चलता है कि देश के लोगों को ठीक ठाक मकान और बुनियादी सुविधाएं देने का काम कितना कठिन है। देश ने अनेक क्षेत्रों में जो



तरक्की की है, उससे इस सोच की तस्वीर उल्टी है। यहां आजादी के बाद गंदी बस्तियों में रहने वाले लोगों की तादाद बढ़ती जा रही है। इसकी वजह यह है कि शहरीकरण की रफ्तार तेजी से बढ़ रही है और हमारे शहरों में इन अप्रवासियों को बसाने के लिए कोई योजना नहीं है।

वही रिपोर्ट के मुताबिक सघन आबादी वाली ये बस्तियां पेयजल, शौचालय की सुविधा से वंचित हैं और यहां जो मकान बने हुए हैं, उनकी दशा अत्यधिक खराब है, साथ ही स्वच्छता बिल्कुल नहीं है। मसलन, शहरों के स्लम हटाने में ही नहीं, ग्रामीणों को शौचालय उपलब्ध कराने के मामले में भी संप्रग-2 सरकार बुरी तरफ विफल रही है। गौरतलब है कि आजादी के 66 साल बाद भी देश के ग्रामीण क्षेत्रों में 60 फीसद आबादी के पास शौचालय की सुविधा नहीं है। जुलाई से दिसम्बर 2012 की अवधि में हुए इस सर्वे में देश के 4475 गांवों को शामिल किया गया था। इस सर्वे में 95548 परिवारों ने हिस्सा लिया। अलबत्ता पेयजल के मामले में शहरी इलाकों के साथ-साथ देश के ग्रामीण इलाकों में स्थिति संतोषजनक है। सर्वे के मुताबिक गांवों की 85.8 फीसद आबादी को पेयजल उपलब्ध है। जबकि शहर की 89.6 फीसद आबादी को पेयजल उपलब्ध है।

बहरहाल, भारत का कोई भी शहर ऐसा नहीं है, जहां झुग्गी-झोपड़ियां न हों। शहर की आलीशान बस्तियों के पड़ोस से लेकर रेपटरियों के किनारे-किनारे घास-फूस, मिट्टी, प्लास्टिक, टिन की चादरों, यहां तक कि पालीथिन को जोड़-जाड़ कर सिर ढंकने की जो व्यवस्था की जाती है, उसे हमने झुग्गी-झोपड़ी नाम दिया है। यहां रहने वाले दिहाड़ी मजदूर, कोठियों में काम करने वाले, रिक्शा चालक, खोमचे वाले आदि होते हैं। जो यह नहीं जानते कि संविधान ने भारत का नागरिक होने के नाते उन्हें कौन से अधिकार दिए हैं। जिन्हें नहीं मालूम कि मानवाधिकार की परिभाषा उनके जीवन में कहां उपयुक्त होती है, विकास के सूचकांक में उन्हें कहां स्थान मिला है। वे शारीरिक श्रम से किसी तरह अपने परिवार का भरण-पोषण करते हैं और गांव से

शहर की ओर आने का कारण भी यही होता है। सर्दी, गर्मी, बारिश हर मौसम की मार इन पर पड़ती है और उसे सहने के अलवा कोई विकल्प इनके पास नहीं होता।

हालांकि झुग्गी झोपड़ियां राजनीतिक दलों से लेकर सत्तासीन लोगों के लिए हमेशा ज्वलंत मुद्दा रही हैं लेकिन निजी स्वार्थ के लिए। यही कारण है कि सरकारी दावों के बावजूद शहरों में बेतरतीब ढंग से झुग्गियां बढ़ रही हैं और राजनीतिक दल फायदा लेने के लिए इन्हें नियमित करने का वादा भी कर देते हैं बिना यह देखे कि इन बस्तियों तक बुनियादी सुविधाएं वे किस तरह उपलब्ध कराएंगे। विडंबना यह है कि रोटी, कपड़ा और मकान की बातें करने वाले राजनीतिक दल आवास समस्या का समाधान करने के लिए तनिक भी गंभीर नजर नहीं आते। वर्तमान में जो शहर जितना बड़ा है, आम आदमी के लिए एक अदद आवास हासिल करना उतना ही मुश्किल है। दरअसल, शहर या कस्बे के नक्शे में इनका दीर्घकालिक सुनियोजन हो, इसकी व्यवस्था नहीं हो पा रही है। सरकार एनएसएसओ द्वारा जारी आंकड़ों पर भलें अपनी पीठ थपथपा ले कि सुविधाप्राप्त लोगों की संख्या बढ़ी है, लेकिन राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षण संगठन के ताजा आंकड़े ग्रामीण और शहरी इलाकों में लोगों को आवश्यक बुनियादी सुविधाएं उपलब्ध कराने के मामले में केन्द्र और राज्य सरकारों की पाले खोल रहे हैं। हालांकि संदेह है कि इन आंकड़ों के सामने आने के बाद भी हमारे नीति-नियंता अपनी जिम्मेदारी के प्रति सचेत होंगे और देश को झुग्गियों से मुक्त करने के अभियान को गति देने के लिए कमर कसेंगे। असल में झुग्गी झोपड़ियां देश के विकास की चमकती तस्वीर में पैबंद की तरह है, उन्हें खत्म किया जाना जरूरी है, लेकिन केवल सौदर्यीकरण के लिए नहीं, वरन इसलिए कि इनमें रहने वाले सम्मान के साथ जी सके। इन बस्तियों में रहने वाले लोगों की बेहतरीन के लिए यह जरूरी है कि सबसे पहले उन्हें भी अधिकार संपन्न नागरिक माना जाए और उनकी जरूरत समझते हुए उनकी समस्याओं का हल निकाला जाए।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)



बढ़ती जनसंख्या, बढ़ती चुनौतियां

● ज्ञानेन्द्र रावत



देश के कई बड़े राज्यों में नाटकीय ढंग से ग्रामीण आबादी में गिरावट दर्ज की गई है। विडम्बना यह है कि उन राज्यों के पास काफी उपजाऊ जमीन है और वहां खेती का काफी पुराना इतिहास है। वैश्विक दृष्टि से यदि इतिहास पर नजर डालें तो वर्ष 1800 में दुनिया की तीन फीसद से भी कम आबादी शहरों में रहती थी जबकि वर्ष 2008 के आखिर तक शहरी आबादी का यह आंकड़ा 50 फीसद को भी पार कर चुका था। आज हालत यह है कि अब इस क्षेत्र में एक करोड़ या उससे अधिक आबादी वाले 26 महानगर हो गए हैं। इनमें टोकियो, सियोल, शंघाई, मुंबई, दिल्ली, जकार्ता, मनीला, कराची, कोलकाता, बीजिंग, ओसाका और ढाका शामिल हैं।



ज | नसंख्या वृद्धि विश्व की सबसे बड़ी समस्या है। संयुक्त राष्ट्र की मानें तो आज विश्व की जनसंख्या सात अरब का आंकड़ा पार कर गई है। चिंता की बात यह है कि यह बेतहाशा बढ़ रही है। आज वैश्विक आबादी में हर साल साढ़े आठ से नौ करोड़ की बढ़ोत्तरी हो रही है। माना जा रहा है कि भविष्य में कुछ बड़े अफ्रीकी और दक्षिण एशियाई देश जनसंख्या को और तेजी से बढ़ाएंगे। इमसें खासतौर से भारत भी शामिल है। वास्तविकता यह है कि जिस तरह जनसंख्या वृद्धि एक चुनौती है, ठीक उसी तरह इसके साथ-साथ इससे उपजी चुनौतियों का सामना करना भी समूचे विश्व के लिए आसान नहीं है। ये चुनौतियां बहुत बड़ी समस्या का रूप धारण कर चुकी हैं। इस मामले में एशिया प्रशांत क्षेत्र सबसे अधिक चुनौतियों से जूझ रहा है। इनमें ग्रामीण आबादी का पलायन और शहरी आबादी में बेतहाशा बढ़ोतरी सबसे बड़ी चुनौती है। भोजन, पानी, स्वास्थ्य संबंधी रोजमर्रा की जरूरतों की आपूर्ति के साथ ही जलवायु परिवर्तन से बिगड़ा पर्यावरणीय माहौल, ऊर्जा की बढ़ी जरूरत, परिवहन, औद्योगिक संसाधन और इंफ्रास्ट्रक्चर के लिए ऊर्जा, कार्बन उत्सर्जन के कारण

बढ़ती ग्लोबल वार्मिंग और जलवायु से जुड़े भीषण खतरे जैसी चुनौतियां मुंह बाये खड़ी हैं।

एक चिंतनीय पहलू यह है कि देश के कई बड़े राज्यों में नाटकीय ढंग से ग्रामीण आबादी में गिरावट दर्ज की गई है। विडम्बना यह है कि उन राज्यों के पास काफी उपजाऊ जमीन है और वहां खेती का काफी पुराना इतिहास है। वैश्विक दृष्टि से यदि इतिहास पर नजर डालें तो वर्ष 1800 में दुनिया की तीन फीसद से भी कम आबादी शहरों में रहती थी जबकि वर्ष 2008 के आखिर तक शहरी आबादी का यह आंकड़ा 50 फीसद को भी पार कर चुका था। आज हालत यह है कि अब इस क्षेत्र में एक करोड़ या उससे अधिक आबादी वाले 26 महानगर हो गए हैं। इनमें टोकियो, सियोल, शंघाई, मुंबई, दिल्ली, जकार्ता, मनीला, कराची, कोलकाता, बीजिंग, ओसाका और ढाका शामिल हैं। इसमें दो राय नहीं कि मौजूदा हालात में महानगरों की आर्थिक कामयाबी के बावजूद समूची दुनिया की सरकारें बुनियादी सवालों से हर स्तर पर जूझ रही हैं।

गौरतलब है कि इस सदी के दौरान दुनिया में जिस



तरह महानगरों की तादाद बढ़ेगी, ठीक उसी तरह बहुतेरे कई और शहरों की आबादी में भी बढ़ोत्तरी होगी। परिणामस्वरूप वहां एक ओर जहां ऊर्जा की मांग में बढ़ोत्तरी होगी, वहीं खाद्य आपूर्ति, पानी, औद्योगिक संसाधन, परिवहन और इंफ्रास्ट्रक्चर के लिए ऊर्जा पर जोर रहेगा। हमारे सामने कॉर्बन उत्सर्जन तो ग्लोबल वार्मिंग की बड़ी वजह है ही, जलवायु से जुड़े खतरों से भी हम जूझ रहे हैं। इस दौरान शहरों का तापमान वैश्विक व राष्ट्रीय भूमि क्षेत्र के तापमान की वृद्धि दर से दुगुनी-तिगुनी दर से बढ़ रहा है। इसे टीट आइलैंड कहते हैं। इसके अलावा जैसे चीन को देखिए, वहां ग्रामीण अंचल से पलायन के लिए ग्रामीणों को सब्सिडी दी जाती है, नतीजतन वहां केवल पांच सालों में ही जहां शहरों की तादाद दोगुनी हुई, वहीं आबादी में दोगुने से भी ज्यादा इजाफा हुआ। जापान को लें, वहां आए भीषण सुनामी में टोकियो को यह सोचने पर विवश कर दिया कि वह परमाणु ऊर्जा और शहरों की सुरक्षा के प्रति अपने नजरिये पर पुनर्विचार करे और नयी परिस्थितियों के मद्देनजर अपनी नीतियां और सोच का निर्धारण करे। ठीक इसी तरह 2003 में पेरिस में लू के भयंकर प्रकोप से सर्वत्र त्राहि-त्राहि मच गयी। इसका प्रमुख कारण यह रहा कि वहां के समाज और स्थानीय प्रशासन ने इस तरह के मौसमी प्रकोप से लड़ने की तैयारी नहीं की थी। ऐसी दशा में उनकी स्थिति एक असहाय मूकदर्शक की सी बनी रही। इसलिए इन स्थितियों से भी निपटने के लिए तैयार रहना होगा। यह सच है कि प्राकृतिक आपदाओं से उतनी ही बड़ी तबाही होगी जितना बड़ा शहरी इलाका होगा। उस देश में चेतावनी प्रणाली भी जानमाल की हिफाजत कर पाने में नाकाम रहती है। अक्सर देखा गया है कि आंधी, तूफान और बाढ़ के संयुक्त खतरों से आगाह होने के बावजूद लोगों के पास कम वक्त मिल पाता है कि वे सुरक्षित इलाकों में समय रहते पनाह ले सकें। शहरों पर बढ़ते दबाव के चलते यह बेहद जरूरी है कि आपात स्थिति के लिए शरण स्थलों का निर्माण हो। वहां बनाये गए शरण स्थलों ने वहां की एक बड़ी आबादी को बाढ़ और चक्रवात जैसी आपदाओं से बचाया है। आज दुनिया के सामने समुद्र

और नदियों के किनारे बसे अपने तटीय इलाकों व महानगरों को सुरक्षित रख पाना, कैटरीना जैसे तूफानों और बाढ़ से बचाव, टारनेडो का खतरा, समुद्र के बढ़ते जलस्तर से होने वाली फसलों की बर्बादी आदि से निपटने की दिशा में चेतावनी तंत्र की बेहद जरूरत है।

इस दिशा में दुनिया के वैज्ञानिक इन खतरों से निपटने की पुरजोर कोशिश कर रहे हैं ताकि एक ऐसी प्रणाली तैयार की जा सके, जिससे हादसों के पूर्व चेतावनी जारी की जा सके और समय रहते निगरानी रख सकें। बैंकाक की बाढ़, न्यू ओरलेंस में आए कैटरीना तूफान आदि इस बात के प्रमाण हैं कि उस समय न तो उचित सुरक्षा इंतजाम थे और न ही बाढ़ संबंधी चेतावनी तंत्र। पिछले सालों में ह्यूस्टन और फिलीपींस आदि में आए तूफान ने इस तथ्य को प्रमाणित किया है। इंग्लैंड का कैनवे द्वीप इसका सबसे बढ़िया उदाहरण है जहां पर चारों ओर से किलेबंदी कर दी गई है ताबि वह 1953 की तर्ज पर आई बाढ़ का मुकाबला कर सके।

बीते सालों के कई उदाहरण हैं जब विश्व के अनेक महानगर और वहां की सरकारें अचानक आयी विदाओं का मुकाबला कर पाने में नाकाम रही हैं। उसी का परिणाम है कि अब दुनिया के देशों की सरकारें हर स्तर पर उन विपदाओं का सामना करने के लिए न केवल कटिबद्ध हैं बल्कि पर्यावरणीय कारकों से भी निपटने की रणनीति बना रही हैं। वे इस दिशा में जनता को भी जागरूक करने की भरसक कोशिश कर रही हैं। जरूरत इस बात की है कि इस बाबत विश्व स्वास्थ्य संगठन, विश्व मौसम नियंत्रण केन्द्र, देशों की सरकारें और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय एजेंसियों को एकजुट होकर जनता को विपदाओं से मुक्ति दिलानी होगी जो इन विपदाओं को झेलने के आदी हो चुके हैं। यदि नहीं, दुनिया के देशों को आसन्न खतरों से निपटने की खातिर अंतर शहरी सहयोग को प्रमुखता देनी होगी। यही तमाम सरकारों का प्रथम उद्देश्य होना चाहिए तभी इन चुनौतियों का मुकाबला किया जा सकता है।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)



कीटनाशक के चलते लुप्त हो रहे पक्षी

● आशीष वशिष्ठ

बढ़ते कीटनाशकों के उपयोग ने पक्षियों के जीवन को बहुत नुकसान पहुंचाया है। किसानों के मित्र समझे जाने वाले पक्षियों की प्रजातियों में दिन-प्रतिदिन भारी कमी होती जा रही है। हालात ये हैं कि कुछ समय से तो कुछेक प्रजातियों के पक्षी नजर ही नहीं आ रहे हैं। विशेष बात तो यह है कि इनके अचानक गायब होने का मुख्य कारण किसानों द्वारा परंपरागत तकनीक को छोड़कर मशीनों द्वारा खेती करने के साथ-साथ बड़े पैमाने पर कीटनाशक दवाइयों का अंधाधुंध प्रयोग करना जिसके चलते पक्षियों पर इसका गहरा दुष्प्रभाव पड़ा है।

ती | न दशक पूर्व मित्र पक्षियों की संख्या देश भर में काफी अधिक थी लेकिन अब मोर, तित्तर, बटेर, कौआ, सफेद बाज, काली चिड़िया तथा गुटर समेत अनेक प्रजातियों के पक्षी दिन-प्रतिदिन लुप्त होते जा रहे हैं। विशेषज्ञों के अनुसार बदलती जलवायु आवासीय हास मानवीय हस्तक्षेप और भोजन पानी में घुल रहे जहरीले पदार्थ पक्षियों के लिए जानलेवा साबित हो रहे हैं। बदलती जलवायु, आवासीय हास, कीटनाशकों के खेती में बढ़ते प्रयोग और मानवीय हस्तक्षेप के चलते पक्षियों के अस्तित्व पर खतरा मंडरा रहा है और ऐसा अनुमान है कि आने वाले 100 साल में पक्षियों की 1183 प्रजातियां विलुप्त हो सकती हैं। इस समय दुनिया में पक्षियों की करीब 9900 ज्ञात प्रजातियां हैं। विभिन्न कारणों से पक्षियों की प्रजातियों का विलुप्त कारणों से पक्षियों की प्रजातियों का विलुप्त होना जारी है और सन् 1500 से लेकर अब तक 'भगवान के डाकिए' कहे जाने वाले इन खूबसूरत जीवों की 128 प्रजातियां विलुप्त हो चुकी हैं। पक्षियों और उनके आवास के संरक्षण के लिए प्रयास करने वाले वैश्विक संगठन बर्डलाइफ इंटरनेशनल के मुताबिक एशिया महाद्वीप में पाई

जाने वाली 2100 पक्षी प्रजातियों में से 323 पर विलुप्ति का खतरा मंडरा रहा है। चीन में 78, भारत में 73 और फिलिपींस में 69 प्रजातियों पर संकट है। बर्डलाइफ का यह भी कहना है कि पक्षियों की 41 प्रजातियां सबसे अधिक खतरे में हैं और उनमें से 11 तो शायद खत्म ही हो चुकी है। बर्डलाइफ इंटरनेशनल ने अपनी रेड डाटा बुक में पक्षियों की विलुप्त होती प्रजातियों के लिए पूरी तरह से मानवीय क्रियाकलापों को जिम्मेदार माना है। विशेषज्ञों के अनुसार बढ़ती जनसंख्या का दबाव और आर्थिक विकास पक्षियों की इस हालत के लिए जिम्मेदार है। इसके अलावा प्राकृतिक संसाधन भी काफी बदबाव झेल रही हैं। हाल ही में कानपुर, बुलंदशहर, सहारनपुर, बिजनौर, मुजफ्फरनगर, बागपत व मेरठ से मोरों के असमय मरने की खबरें खबरनवीसों के माध्यम से खूब पढ़ने को मिली हैं। पर्यावरणविद् भी इसके लिए समय-समय पर चिन्ता प्रकट करते ही रहते हैं। मोर क्यों मर रहे हैं, कौन इसके लिए कसूरवार है और इसकी जिम्मेवारी आखिर किसकी है? ये सब सवाल अनसुलझे से हमारे बीच खड़े हैं। प्रारंभिक सर्वेक्षण रिपोर्ट के माध्यम से यह सामने आया है कि मोर फसलों पर छिड़के जाने



वाले कीटनाशकों के कारण काल का ग्रास बन रहे हैं। विषय विशेषज्ञों व जानकारों की मानें तो पता चलता है कि मोर द्वारा फसलों के बीच व मिट्टी में पनपने वाले कीड़ों को खाया जाता है। इन कीटों को ठिकाने लगाने व अपनी फसल को बचाने के फेर में किसानों द्वारा तरह-तरह के जहरीले कीटनाशक फसलों व आम के बागों में प्रयोग किए जाते हैं। जिसके कारण कीट तो मर जाते हैं लेकिन मर कर भी अपने अन्दर समा चुके जहर से मोर को भी मार देते हैं क्योंकि ये मरे हुए कीट ही मोरों का भोजन बनते हैं और इनको खाकर मोर निडाल हो जाता है और अंत में मर जाता है। इसी प्रकार खेतों में पड़े जहरीले दानों को खाकर भी मोर मर रहे हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आम के बागों के बहुतायत में होने के कारण मोर इन बागों में रहते हैं तथा वहीं से अपना दाना-पानी लेते हैं। लेकिन जिस रफ्तार से पिछले एक दशक से आम के बागों में कीटनाशकों का प्रयोग बढ़ा है उससे मोर अब अपने ही घर में सुरक्षित नहीं रह गया है। राष्ट्रीय पक्षी मोर जहां बीजों में मिले कीटनाशकों की वजह से मारा जा रहा है, वहीं पर्यावरण को स्वच्छ रखने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला गिद्ध जैसा पक्षी पशुओं को दी जाने वाली दर्द निवारक दवा की वजह से मौत का शिकार हो रहा है। गिद्ध मरे हुए पशुओं का मांस खाकर पर्यावरण को साफ रखने में मदद करता है, लेकिन उसका यह भोजन ही उसके लिए काल का संदेश ले आता है। पशुओं को दी जाने वाली दर्द निवारक दवा गिद्ध के लिए जानलेवा साबित होती है। भारत में जिन पक्षियों के अस्तित्व पर खतरा मंडरा रहा है उनमें विभिन्न तरह के गिद्धों के अतिरिक्त 'ग्रेट इंडियन बस्टर्ड' गुलाबी सिर वाली वत्सख हिमालयन क्वेल साइबेरियन सारस बंगाल फ्लोरिकन उल्लू आदि प्रमुख हैं। पंजाब का राज्य पक्षी बाज भी संकट में है क्योंकि बढ़ते तापमान, कैमिकल युक्त प्रदूषण, घटते वन क्षेत्र तथा मोबाईल के टावरों इलेक्ट्रोमैग्नेटिक रेडिएशन के कारण प्रदेश में इनकी गिरावट अनुसार बाज सहित दूसरे पक्षियों पर कीटनाशकों पैस्टीसाईड्स डीटीटी का बहुत ही नकारात्मक प्रभाव पड़ा है। पंजाब में कीटनाशकों

के अधिक प्रयोग के द्वारा बाज के अंडों पर बुरा असर हुआ है जिसके अंतर्गत डीटीटी ने बाज के अंडों की मोटाई की परत पतली कर दी है। यही वजह है कि पक्षी अपने शरीर की गर्मी से इन अंडों को गर्माहट पहुंचा कर बच्चे पैदा करने में नाकाम हो रहे हैं। गत वर्ष हरियाणा के पलवल जिले के अहरवां गांव में कीटनाशकों के कारण 15 दिनों के भीतर ही लगभग सवा सौ से ज्यादा मोर मारे गये थे। उत्तर प्रदेश के बाराबंकी और इटावा जनपद में भी दर्जनों मोर व अन्य पक्षी कीटनाशकों के कारण मौत की खबरें आयी थीं।

जानकारों का मानना है कि कीटनाशकों का फसल पर प्रयोग होने से खेतों में चूहे तो मर जाते हैं और इनकों खाने से ये पक्षी भी मर रहे हैं। इसी तरह से जहरयुक्त मरे जीवों को खाने से कौंवें भी खत्म हो रहे हैं। उधर, ट्रेक्टर या हल से जुताई करते समय सैंकड़ों की तादाद में गुटर जाति के पक्षी कीटों को चुगने के लिए आते थे जो अब लुप्त होते जा रहे हैं। वहीं, खेतों में सूंड़ी जैसे कीटों को मारकर खाने वाली काली चिड़िया तथा अन्य किस्म की चिड़ियों पर भी कीटनाशकों का कहर बरपा है जिसका खमियाजा कुल मिलाकर अगर देखा जाए तो किसानों को ही भुगतना पड़ रहा है। किसानों का कहना है कि ये पक्षी खेतों में फसल को नुकसान पहुंचाने वाले कीटों को खा जाते थे। खेतों में तीतर व बटेर जैसे पक्षी दीमक को खत्म करने में बेहद सहायक थे। इसके अलावा धान, गन्ने की फसल व टमाटर के खेतों में कीटनाशकों का जरूरत से ज्यादा छिड़काव किया जा रहा है जिससे तीतर व बटेर, काली चिड़िया जैसे पक्षियों की हर वर्ष भारी संख्या में मौत हो जाती है। यहीं स्थिति मांसाहरी पक्षी मोर, शिकरा और कौवे की है।

राष्ट्रीय पक्षी मोर किसानों को सर्प जैसे खतरनाक जन्तु से भयमुक्त रखते हैं। किसानों का मित्र यह पक्षी पकी फसल को भारी मात्रा में नुकसान पहुंचाने वाले चूहों को मारकर खाने में मशहूर है लेकिन इनकी संख्या घट रही है।

(साभार : राष्ट्रीय हिन्दी मेल)



बिखरते समाज की इकाई परिवार को बचाना होगा

● जीवन सिंह ठाकुर

प्रदेश के देवास जिले में पारिवारिक टूटन की शिकार ऐसी ही एक मां-बेटी का मामला सामने आया। मां ने बेटी को दस वर्ष से घर से बाहर नहीं निकलने दिया। बेटी बीमार भी रहती थी, लेकिन मां घर में उसका इलाज करती रही। पड़ोसियों की शिकायत पर पुलिस प्रशासन ने घर के दरवाजे खुलवाकर मां-बेटी को अस्पताल पहुंचाया। दस वर्षों से घर में कैद बेटी बेहद कृशकाय हो चुकी थी। कुछ इसी तरह मां मामला अतीत में दिल्ली में भी उजागर हुआ था, जहां पर दो बहनें वर्षों से घर के अंधेरे कोने में कैद तिल-तिलकर कर जी रहीं थीं।

हम अक्सर अखबारों में पारिवारिक टूटन के चलते हताश लोगों के अवसाद में घिरने या आत्महत्या करने की खबरें पढ़ते हैं। लेकिन ये घटनाएं महज कानून के अनुसार 'अपराध' और चिकित्सा विज्ञान के हिसाब से 'डिप्रेशन' आदि में शुमार की जाती हैं। अलबत्ता इनके बीज सामाजिक संरचना, पारिवारिक पृष्ठभूमि और उसके अर्थतंत्र में मौजूद होते हैं। जिस तरह से पारिवारिक तनाव, टूटन के मामले बढ़े हैं, उसने समाज में गहरी बेचैनी पैदा कर दी है।

पिछले दिनों प्रदेश के देवास जिले में पारिवारिक टूटन की शिकार ऐसी ही एक मां-बेटी का मामला सामने आया। मां ने बेटी को दस वर्ष से घर से बाहर नहीं निकलने दिया। बेटी बीमार भी रहती थी, लेकिन मां घर में उसका इलाज करती रही। पड़ोसियों की शिकायत पर पुलिस

प्रशासन ने घर के दरवाजे खुलवाकर मां-बेटी को अस्पताल पहुंचाया। दस वर्षों से घर में कैद बेटी बेहद कृशकाय हो चुकी थी। कुछ इसी तरह मां मामला अतीत में दिल्ली में भी उजागर हुआ था, जहां पर दो बहनें वर्षों से घर के अंधेरे कोने में कैद तिल-तिलकर कर जी रहीं थीं।

बहरहाल, हालिया मामले में सवाल यह है कि शासकीय कर्मचारी रही मां ने बेटी को उसके उज्ज्वल भविष्य से वंचित क्यों कर दिया? उसका पति से तलाक हो चुका था। बेटा भी साथ छोड़कर चला गया। बेटी भी कही चली न जाए, इस अंधेरे में मां ने बारहवीं में प्रथम श्रेणी उत्तीर्ण इस बेटी को एकदम इतने सख्त घरे में ले लिया कि उसकी जिंदगी एक बिस्तर, गहरे अंधेरे और निराशा में कैद होकर रह गई। इस मानवीय संवेदना की त्रासदी हमारे सामाजिक ढांचे पर आ रहे पारिवारिक टूटन के प्रभाव से पैदा हुई है।



एकाकीपन का बनता परिवेश
अंततः संवादहीनता और हताशा में
डुबोता है। जिस मां ने बेटी को
दस साल तक घर के अंदर निपट
खामोश, संवादहीनता और हमाशा
में रखा, वह आत्मसुरक्षा के अंदेशों
में जी रही थी। पति से संबंध
विच्छेद एक गहरे संवेदनात्मक
परिवेश का टूटना होता है। फिर
सुरक्षा के प्रतीक बेटे का भी दूर
चले जाना उसके अस्तित्व की
बुनियाद हिला गया। ऐसे में जो
उसके पास 'बेटी' थी, उसे ही
उसने थाम लिया। उसने सोच लिया
कि उसे किसी कीमत पर जाने
नहीं देगी। इसमें उसका प्रेम भी है,
गुस्सा और खीझ भी है।

संयुक्त परिवार में पैदा हुआ बच्चा एकाकीपन से बचता है। उसे चारों तरफ रिश्तों की आंच महसूस होती है। उसके दुःख, उदासी, कष्ट को समवेत सांत्वना और निदान मिलता है। गौरतलब है कि बढ़ती आर्थिक विषमता के साथ लोगों की बढ़ती जरूरतों ने 'व्यक्तिगत' विकास को इतना केंद्रित कर दिया कि वह सामान्य सामाजिक मूल्यों, शिष्टाचार तक से दूर हो गया। इससे यह हुआ कि आर्थिक समृद्धि और ढेर सारी सुविधाओं के बाद भी एकाकीपन, संवेदनहीनता,

छीजते संबंधों ने परिवार में आराम से अपनी जगह बना ली। एकाकीपन का बनता परिवेश अंततः संवादहीनता और हताशा में डुबोता है। जिस मां ने बेटी को दस साल तक घर के अंदर निपट खामोश, संवादहीनता और हमाशा में रखा, वह आत्मसुरक्षा के अंदेशों में जी रही थी। पति से संबंध विच्छेद एक गहरे संवेदनात्मक परिवेश का टूटना होता है। फिर सुरक्षा के प्रतीक बेटे का भी दूर चले जाना उसके अस्तित्व की बुनियाद हिला गया। ऐसे में जो उसके पास 'बेटी' थी, उसे ही उसने थाम लिया। उसने सोच लिया कि उसे किसी कीमत पर जाने नहीं देगी। इसमें उसका प्रेम भी है, गुस्सा और खीझ भी है।

अतः उक्त मामले को इसकी पिछली घटनाओं तथा परिवार पर पड़ रहे कथित 'विकास' के प्रभाव के संदर्भ में देखना चाहिए। आखिर एक अच्छी-भली शासकीय कर्मी संवेदनहीनता, संवादहीनता के साथ गहरी निराशा में कैसे डूब गई? कहने को तो हम कह सकते हैं कि उसे अपना 'विवेक' जाग्रत रखना था। लेकिन यह भी सोचना पड़ेगा कि कामकाजी महिलाओं समेत अन्य महिला-पुरुष भी हमारी सामाजिक, आर्थिक व्यवस्था में पारिवारिक टूटन के शिकार क्यों हो रहे हैं? यह कथित 'विकासवाद' एक इंसान से उनकी जिंदगी, उसकी गरिमा, स्वाभिमान छीनकर उसे उपेक्षित, फालतू बना रहा है। काश, संवादहीनता न हो तो बात बन जाती है। लेकिन आज भी भयावह सच्चाई यह है कि संवाद असंभव होता जा रहा है। आक्रामकता बढ़ती जा रही है। एक-दूसरे को नीचा दिखाने, पछाड़ने का भाव हिलारे मार रहा है। ऐसे में बेहद सीमित संख्या वाले परिवार भी आक्रामकता, पर-पीढ़कता, कटुता से घिरकर विध्वंस के कगार पर खड़े हैं। हमें अपने टूटते-बिखरते समाज की इकाई परिवार को रिश्तों, सद्भाव, मधुरवाणी, संवेदनशीलता से भरना होगा। फिसलन इतनी तेज है कि इसे रोकने के लिए बड़े सांस्कृतिक, सामाजिक, संवेदनशील अभियान की जरूरत है, ताकि एकाकीपन, फालतू होने का भाव ही पैदा न हो।

(साभार : नवदुनिया)



समाज की भागीदारी बिना जल संकट का समाधान नहीं

पानी सुलभ से दुर्लभ होता जा रहा

● ज्ञानेन्द्र रावत

दुनिया में 1.1 अरब लोग साफ पानी की पहुंच से बाहर हैं जबकि पांच में से एक व्यक्ति की साफपानी तक पहुंच ही नहीं है, ऐसा अनुमान है कि पूरी दुनिया में 2025 तब 5.3 अरब लोग यानी दुनिया की दो तिहाई आबादी को पानी की कमी का सामना करना पड़ेगा।

जल संकट हमारे देश की ही नहीं अपितु समूचे विश्व की समस्या है। हालात की भयावहता का अंदाजा इसी बात से लग जाता है कि पृथ्वी की सतह पर 71 फीसदी पानी है लेकिन उसमें से केवल 2.5 फीसदी ही लवणयुक्त पानी है और पृथ्वी पर उपलब्ध जल का 0.08 फीसदी ही पानी मानव के इस्तेमाल के लायक है। दुनिया में 1.1 अरब लोग साफ पानी की पहुंच से बाहर हैं जबकि पांच में से एक व्यक्ति की साफपानी तक पहुंच ही नहीं है, ऐसा अनुमान है कि पूरी दुनिया में 2025 तब 5.3 अरब लोग यानी दुनिया की दो तिहाई आबादी को पानी की कमी का सामना करना पड़ेगा।

जहां तक भारत का सवाल है हमारे यहां पहले की व्यवस्थाएं ठीक-ठाक थीं और सबको पानी मुहैया करा रही थीं, सच तो यही है कि देश की आधी से अधिक आबादी तब भी पानी के अभाव से त्रस्त थी और आज भी है। और यह भी कि तब भी आधी से ज्यादा आबादी के लिए पीने-नहाने-धोने और पशुओं को पानी पिलाने जैसी कार्यों के

जल स्रोत समान थे तो इसमें दो राय नहीं कि आज भी हालात उससे अधिक नहीं सुधरे हैं। लेकिन दुखद पहलू यह है कि जहां तकरीब तीन दशक पहले तक पानी सहज सुलभ था, वहां भी अब वह दुर्लभ हो रहा है। इसे भविष्य की एक विकट चेतावनी के रूप में देखा जाना चाहिए। यह स्थिति उस वस्तु के अभाव की है जो मनुष्य को हवा के साथ चाहिए और जिसके अभाव का विकल्प कुछ अन्य नहीं सिर्फ उसकी पूर्ति ही है। एकदम सतही और मोटी बात तो यही है कि जब आजादी के बाद के इन छह दशकों में देश की आबादी तिगुनी हो गयी है तो जल संसाधन और जल स्रोत क्या करें। इसका सीधा सा जबाव है कि किसी भी सभ्य समाज की चिंता यही होनी चाहिए कि उसके सदस्यों की संख्या संसाधनों की हद को पार न करे जाये। इसके साथ यह भी कि वर्तमान में उसके जितने भी जीवित सदस्य मौजूद है। उन्हें कम से कम न्यूनतम जरूरत का पानी तो उपलब्ध हो जाये। यह सच है कि पंच तत्वों में शामिल पानी सबसे अमूल्य प्राकृति संसाधन है। पानी के



बिना जीवन असंभव है। लेकिन दुख इस बात का है मानव के अस्तित्व के लिए जरूरी जल को वही मानव सुरक्षित नहीं रख सका। इसका कारण यह रहा कि पानी धरती पर प्रचुर मात्रा में उपलब्ध था। लिहाजा पानी के प्रति मानव के गैर जिम्मेदाराना व्यवहार ने जल स्रोतों के खात्मे के द्वार खोल दिए। नतीजन पानी की गुणवत्ता और मात्रा में गिरावट की शुरूआत हुयी। आज स्थिति यह है कि एक-एक बूंद पानी का महत्व है। इसके बावजूद हम सब इससे बेखबर हैं।

आज दिनों-दिन जल संकट के भयावह रूप धारण कर लेने से हालत यह हो गई है कि अब जल प्रबंधन प्रणाली में सुधार करने और पानी की परंपरागत प्रणाली को पुनर्जीवित करने की जरूरत महसूस की जाने लगी है। ऐसी अवस्था में क्षेत्रीय विकास के मुकाबले स्थानीय विकास के मॉडल को प्राथमिकता देनी चाहिए जो तकनीकी दृष्टि से प्रासंगिक है। इसलिए सरकार को वैधानिक प्रयासों के अलावा इस दिशा में समाज की भागीदारी को बढ़ावा देना होगा। इसमें किंचित मात्र भी संदेह नहीं है कि हमारे यहां जैसे-जैसे प्रौद्योगिकी का विकास हुआ है और प्रौद्योगिकी का प्रयोग उतरकर सामान्य जीवन स्तर तक पहुंचा है, उसी अनुपात में वह सर्तकता जन व्यवहार में शामिल नहीं हुई जो प्रौद्योगिकी प्रयोग के साथ अनिवार्य है। अन्य भारतीय सेवाओं की तरह जिस किसी भी सेवा का सार्वजनिकरण हुआ है, वह सुचारू रूप से नहीं चल सकी है। अगर एक व्यक्ति को कुएं से खींचकर पानी लाना है तो जाहिर है कि वह पानी फैलाने या उसे बर्बाद करने के लिए एक बाल्टी भी अतिरिक्त नहीं खींचेगा। यही यदि उसे सार्वजनिक नल से लेना पड़े तो वह खड़े-खड़े कई बाल्टी फैला सकता है। ठीक उसी तरह जिनको सहज पानी उपलब्ध है, वे उसे सहज बर्बाद भी कर सकते हैं। भले ही पड़ोस में प्यास बुझाने तक के लिए पानी की कमी महसूस की जा रही हो। यह कटु सत्य है कि कोई भी प्रौद्योगिकी संचालित सेवा

बिना तीव्र सामाजिक दायित्वों के सफलता से नहीं चल सकती। वह व्यक्ति की निहायत स्वार्थी प्रवृत्ति का शिकार हो जाती है। नतीजा एक बनी बनायी प्रणाली ध्वस्त हो जाती है। सच तो यह है कि लोगों में बिना सार्वजनिक दायित्वबोध और प्रौद्योगिक चेतना के इस समस्या का निराकरण संभव नहीं है।

असलियत में यही वजह है कि आज टिकाऊ जलप्रबंधन निहायत जरूरी हो गया है। इस पर अंतर्राष्ट्रीय स्तर से लेकर राष्ट्रीय स्तर पर जोर दिया जा रहा है। लेकिन इसकी सबसे खास बात यह है कि अब इसमें योजना और कार्यक्रम ऊपर से नीचे चलने के बजाय हर स्तर पर बनने वाली समझ के साथ चलाया जा रहा है। पानी और विशेषकर पेयजल ऐसा संसाधन है जिसकी उपलब्धता सभी के लिए समान नहीं है। वह व्यक्ति की सांस्कृतिक, आर्थिक और राजनीतिक हैसियत पर निर्भर करती है। इसीलिए एक तरफ पानी के उचित और समान वितरण के लिए प्रशासनिक और सामुदायिक व्यवस्था समझदारी के साथ बनाई जानी चाहिए। लोगों को यह मालूम होना चाहिए कि ताजे पानी की उपलब्धता बहुत सीमित है और उसे लंबे समय तक चलाना है। इसलिए उसमें एक तरफ सामुदायिक भागीदारी बढ़ानी होगी और दूसरी तरफ महिलाओं की भूमिका को भी महत्व देना होगा। लेकिन यह बात लोगों को तब तक समझ में नहीं आएगी। जब तक पानी का आर्थिक महत्व उन्हें नहीं समझ में आएगा।

गौरतलब है कि हमारे संविधान में पानी के मामले में केन्द्र और राज्य सरकारों के दायित्वों का उल्लेख है, पानी के उपयोग की योजना और क्रियान्वयन की प्राथमिकताओं के बारे में देश की जलनीति में जिक्र किया गया है। लेकिन खेद है कि समाज इसमें कहीं भी नहीं है। जबकि हमारी परंपरागत जल प्रणालियों में समाज की अहम् भूमिका रही है।

(साभार : नव भारत)



गांवों के हित टटोलने से मत चूकिए

• भारत डोगरा

देश में ज्यादातर किसान छोटे या मध्यम हैं अतः ध्यान रहे कि उन पर खर्चीली तकनीक व जोखिम भरे निवेश का बोझ न पड़े। उनके लिए ऐसी निःशुल्क, सस्ती व स्थानीय संसाधनों पर आधारित तकनीकी विकसित हो जो पर्यावरण रक्षा के अनुकूल हो। जीएम फसलें स्वास्थ्य, पर्यावरण व खेती-किसानी के लिए बहुत हानिकारक हैं, अतः यह पूर्ण प्रतिबंधित हों। रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाओं, खरपतवारनाशकों पर निर्भरता कम से कम हो।

आर्थिक उदारीकरण के दौर में गांवों व किसानों के हित बुरी तरह उपेक्षित हुए हैं। अनुचित नीतियों ने कृषि व ग्रामीण विकास को कई तरह से समस्याग्रस्त किया है। अतः गांवों के आर्थिक विकास को कई तरह से समस्याग्रस्त किया है। अतः गांवों के आर्थिक विकास के साथ ही अनेक नीतिगत सुधार जरूरी हैं। गांवों के लिए विकास का वह मॉडल कतई न अपनाया जाए जो उन्हें शहरीकरण की ओर बढ़ाता हो और किसानों की संख्या में निरंतर कमी लाने वाला हो।

प्रति किसान भूमि चाहे समय के साथ कम हो रही है पर कुटीर व लघु उद्योगों, खादी व दस्तकारी को बढ़ावा देकर, गांवों व कस्बों व पास के छोटे शहरों में विविधतापूर्ण रोजगार के नए अवसर उत्पन्न किए जा सकते हैं। लघु व कुटीर उद्योगों में परंपरागत व आधुनिक, पुराने व नए दोनों तरह के उद्योग हो सकते हैं, बशर्ते वे पर्यावरण व स्वास्थ्य की रक्षा के अनुकूल हों। गांव स्तर के शाश्वत ऊर्जा स्रोतों से भी रोजगार के कई अवसर उपलब्ध हो सकते हैं।

छोटे व मध्यम किसानों के भूमि अधिकारों की पूरी-

पूरी रक्षा होनी चाहिए। कर्जे या अन्य कारणों से उनकी भूमि छिननी नहीं चाहिए। उपजाऊ भूमि कृषि के लिए सुरक्षित रहे व विस्थापन की संभावना न्यूनतम करने की भरपूर कोशिश होनी चाहिए। आदिवासियों के भूमि अधिकारों को कानूनी मान्यता देने की प्रक्रिया में उनके साथ पूरा-पूरा न्याय होना चाहिए। आदिवासियों व अन्य कमजोर वर्ग से अन्यायपूर्ण तरीके से छीनी गई भूमि लौटा दी जानी चाहिए। विस्थापन जरूरी हो तो हर संभव जमीन के बदले जमीन देने की कोशिश हो। भूमिहीन कृषि मजदूरों को कृषि भूमि देने का हर संभव प्रयास हो, चाहे यह सीलिंग कानून के अंतर्गत हो या अन्य तरह से। जल व मिट्टी संरक्षण, ऊसर भूमि विकास आदि उपयोग से जो नई कृषि भूमि उपलब्ध हो, उसमें भूमिहीन कृषि मजदूरों को प्राथमिकता मिले। सभी ग्रामीण परिवारों को आवास भूमि व आवास उपलब्ध होने चाहिए।

देश में ज्यादातर किसान छोटे या मध्यम हैं अतः ध्यान रहे कि उन पर खर्चीली तकनीक व जोखिम भरे निवेश का बोझ न पड़े। उनके लिए ऐसी निःशुल्क, सस्ती



जल व नमी संरक्षण और हरियाली बढ़ाने के कार्य ग्रामीण विकास के मूल कार्य हैं। मनरेगा, वर्षा जल संरक्षण, वृक्षारोपण व चरागाह विकास कार्यक्रमों के अंतर्गत इन्हें उच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए। वाटरशेड कार्यक्रमों में निर्धन व जरूरतमंद किसानों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पुरानी नहरों की मरम्मत व उचित रख-रखाव जरूरी है। बड़े बांधों व परियोजनाओं के स्थान पर छोटे स्तर की जल संरक्षण परियोजनाओं पर अधिक ध्यान देना चाहिए।

व स्थानीय संसाधनों पर आधारित तकनीकी विकसित हो जो पर्यावरण रक्षा के अनुकूल हो। जीएम फसलें स्वास्थ्य, पर्यावरण व खेती-किसानी के लिए बहुत हानिकारक हैं, अतः यह पूर्ण प्रतिबंधित हों। रासायनिक खाद, कीटनाशक दवाओं, खरपतवारनाशकों पर निर्भरता कम से कम हो। किसानों को विविधतापूर्ण देसी बीज उपलब्ध होने चाहिए। बीजों के मामले में उन्हें देसी बीजों के संरक्षण के आधार

पर आत्मनिर्भर बनना चाहिए। किसानों के बीज अधिकारों की रक्षा होनी चाहिए। कृषि सब्सिडी सीधे किसानों को दी जाए। टिकाऊ खेती और पर्यावरण रक्षा से जुड़ी खेती को प्रोत्साहन मिले। किसानों के हक में कृषि मित्र जीव-जंतुओं, पक्षियों, केंचुओं, कीट-पतंगों और पशुधन आदि की रक्षा का भी समुचित बंदोबस्त होना चाहिए।

जल व नमी संरक्षण और हरियाली बढ़ाने के कार्य ग्रामीण विकास के मूल कार्य हैं। मनरेगा, वर्षा जल संरक्षण, वृक्षारोपण व चरागाह विकास कार्यक्रमों के अंतर्गत इन्हें उच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिए। वाटरशेड कार्यक्रमों में निर्धन व जरूरतमंद किसानों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। पुरानी नहरों की मरम्मत व उचित रख-रखाव जरूरी है। बड़े बांधों व परियोजनाओं के स्थान पर छोटे स्तर की जल संरक्षण परियोजनाओं पर अधिक ध्यान देना चाहिए। वन संरक्षण के तहत स्थानीय प्रजातियों के मिश्रित वन लगे ताकि मिट्टी व जल संरक्षण के साथ फल-फूल व चारे आदि का लाभ ग्रामीणों को मिलता रहे। परंपरागत जल स्रोतों के रूप में तालाबों की रक्षा पर खास ध्यान होना चाहिए।

प्राकृतिक वनों की रक्षा करते हुए वृक्षारोपण के नाम पर व्यापारिक महत्व के एक जैसे पेड़ कभी नहीं लगाये जाने चाहिए। वनों व कृषि दोनों में जैव विविधता की रक्षा होनी चाहिए। वनों से आदिवासियों-वनवासियों की आजीविका की रक्षा होनी चाहिए। उनके अधिकारों को मान्यता मिलनी चाहिए। वन्य जीव संरक्षण या राष्ट्रीय पार्क आदि के नाम पर किसी को विस्थापित नहीं करना चाहिए अपितु वन्य जीव संरक्षण को उच्च महत्व देते हुए इससे आदिवासियों-वनवासियों, विशेषकर उनके युवाओं को जोड़ना चाहिए। इस कार्य में स्थानीय लोगों को आजीविका प्राप्त होनी चाहिए। बांस व उससे जुड़ी आजीविकाओं व दस्तकारियों का विशेष ध्यान रखना चाहिए।

पशुपालन को गांवों में बढ़ावा मिलना चाहिए और यह पशुओं की देशीय नस्लों की रक्षा के आधार पर होना चाहिए। देशीय गोवंश की रक्षा के विशेष प्रयास होने



चाहिए। इसके लिए स्थानीय स्तर पर अच्छे चारे व खली की व्यवस्था, चरागाह विकास, वृक्षारोपण व वनों की रक्षा पर विशेष ध्यान देना चाहिए। सहकारी समितियों को विशेषकर निर्धन वर्ग के प्रतिनिधित्व के साथ सशक्त व्यवहार करना चाहिए। दुग्धपालकों को दूध व उचित मूल्य मिलना चाहिए। विदेशों से दूध-पाउडर व उत्पादों के आयात पर रोक लगनी चाहिए। खली का निर्यात रुकता चाहिए। घुमंतू पशुपालकों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण नीति अपनायी जानी चाहिए।

नदी, समुद्र व अन्य जल-स्रोतों में बढ़ते प्रदूषण के

जिले के किसान आत्मनिर्भर हों। आदर्श व्यवस्था यही हो कि हर राज्य और जिले की यही कोशिश रहे। अनाज के साथ दलहन व तिलहन उत्पादन में भी आत्म-निर्भरता जरूरी है। इसे प्रोत्साहित करने के लिए सरकार को किसानों को उचित व न्यायसंगत मूल्य देना चाहिए। आंगनवाड़ी व मिड डे मील में जरूरी सुधार होने चाहिए।

कृषि उपज को चंद बड़े व्यापारियों की गिरफ्त से मुक्त करवाना चाहिए। किसान और उपभोक्ताओं के सीधे संबंधों को प्रोत्साहित किया जाना चाहिए। विभिन्न शहरी कालोनियों को विशेष ग्रामीण क्षेत्रों से जोड़ना चाहिए ताकि

नदी, समुद्र व अन्य जल-स्रोतों में बढ़ते प्रदूषण के कारण आए बदलावों से मछलियों व अन्य जल-जीवन की रक्षा करनी चाहिए। मछुआरों की आजीविका विशेष तौर पर निर्धन व परंपरागत मछुआरों की आजीविका पर विशेष ध्यान रहे। मछली इत्यादि पकड़ने के लिए परंपरागत तौर-तरीकों को अधिक महत्व मिलना चाहिए ताकि जलीय जीवों का अस्तित्व खतरे में न पड़े।

कारण आए बदलावों से मछलियों व अन्य जल-जीवन की रक्षा करनी चाहिए। मछुआरों की आजीविका विशेष तौर पर निर्धन व परंपरागत मछुआरों की आजीविका पर विशेष ध्यान रहे। मछली इत्यादि पकड़ने के लिए परंपरागत तौर-तरीकों को अधिक महत्व मिलना चाहिए ताकि जलीय जीवों का अस्तित्व खतरे में न पड़े।

जरूरी खाद्यों का उत्पादन टिकाऊ तौर-तरीकों के साथ स्थानीय स्तर पर पर्याप्त मात्रा में होना चाहिए। खाद्य-सुरक्षा के आधार समृद्ध व टिकाऊ खेती-किसानी हैं। प्रयास यही होना चाहिए कि आंगनवाड़ी, मिड-डे मील आदि की स्थानीय खाद्य जरूरत पूरा करने में हर ग्रामीण

अपने उत्पादों की बिक्री किसान व पशुपालक नजदीक की शहरी कालोनियों में बिना किसी बिचौलियों के कर सकें। किसी भी जरूरी उत्पाद में मुनाफाखोरी व सट्टाबाजारी पर सख्ती से रोक लगनी चाहिए।

खाद्य सुरक्षा और किसानों की भलाई के लिए सरकार जो नीतियां अपनाती है, उसमें विश्व व्यापार संगठन जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों की कोई रोक-टोक व नियंत्रण सरकार को स्वीकार नहीं करना चाहिए। किसानों व खाद्य-सुरक्षा के नाम पर यदि कोई प्रतिकूल समझौते पहले हो गए हों तो उनसे बाहर निकलने की कोशिश होनी चाहिए।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)



आने वाले 20 वर्षों में पानी की मांग, आपूर्ति से 40 फीसदी ज्यादा होगी
यानी 10 में से चार लोग पानी के लिए तरस सकते हैं

● अनुपम मिश्र

संकट आने से पहले हो जल की चिंता

जल संकट प्रायः गर्मियों के दिनों में आता था, अब छोटे बड़े शहरों में वर्ष भर बना रहता है। ठंड के दिनों में भी शहरों में लोग नल निचोड़ते मिल जाएंगे। राजनीतिक रूप से जो शहर थोड़े संपन्न और जागरूक हैं, उनकी जरूरत पूरी करने के लिए पानी पड़ोस से उधार भी लिया जाता है और कहीं-कहीं तो चोरी से खींच लिया जाता है लेकिन बाकी पूरा देश जलसंकट से उबर नहीं पाता।

पानी की उपलब्धता पर शोध कर रहे वैज्ञानिकों ने चेतावनी दी है कि आने वाले 20 वर्षों में पानी की मांग उसकी आपूर्ति से 40 फीसदी ज्यादा होगी। इसका अर्थ है कि अगर पानी को समय पर नहीं सहेजा गया तो वैज्ञानिकों का यह शोध इस धरती पर सच होता हुआ दिख सकता है।

हमारे कलेंडर में और प्रकृति के कलेंडर में बहुत अंतर होता है। इसके लिए आवश्यक है कि पानी और प्रकृति को समझा जाए। यहां यह बात भी सच है कि जल संकट खर्च से अधिक व्यवस्था की अव्यवस्था से अधिक पैदा हुआ है। जल संकट और पानी संरक्षण को न समझ पाने के कारण किसी साल बरसात में हम खुश होते हैं, तो किसी साल बहुत उदास हो जाते हैं। लेकिन प्रकृति ऐसा नहीं सोचती। उसके लिए चार महीने की बरसात एक वर्ष के शेष आठ महीने के हजारों-लाखों छोटी-छोटी बातों पर निर्भर करती है। प्रकृति को इन सब बातों पर निर्भर करती है। प्रकृति को इन सब बातों का गुणा-भाग करके अपना

फैसला लेना होता है। प्रकृति को ऐसा नहीं लगता, लेकिन हमें जरूर लगता है कि अरे इस साल पानी कम गिरा या फिर, लो इस साल तो हद से ज्यादा बरस गया।

मौसम को जानने वाले बताएंगे कि 15-20 वर्षों में एक बार पानी का ज्यादा होना या ज्यादा बरसना प्रकृति के कलेंडर का सहज अंग है। थोड़ी-सी नई पढ़ाई कर चुके, पढ़-लिख गए हम लोग अपने कम्प्यूटर, अपने उपग्रह और संवेदनशील मौसम प्रणाली पर इतना ज्यादा भरोसा रखने लगते हैं कि हमें बाकी बातें सूझती ही नहीं हैं। हमारे पुरखे बताएंगे कि समाज ने ऐसे बहुत-से बड़े-बड़े काम किए हैं पानी रोकने के लिए, ऐसे बड़े तालाब बनाए हैं, उन पर हर साल वर्ष के मौसम में पानी की चादर नहीं चल पाती है। ऐसे बड़े तालाबों के इर्दगिर्द बसे गांवों में रहने वाले बुजुर्गों से पूछिए, तो वे सहज ही यह बताएंगे कि 15-20 सालों में कभी ज्यादा पानी गिर जाए, तो उसको रोककर सहेजकर रखने के लिए ही तालाबों को इतना बड़ा बनाया गया था।



इसलिए इस साल यदि पानी पिछले 15 सालों में ज्यादा गिरा है, तो यह प्रकृति की सोची-समझी प्रणाली का सुंदर नमूना है। जहां तक समाज इस प्रणाली को समझता था, उसकी पर्याप्त इज्जत करता था, वहां तक उसको इसका भरपूर लाभ भी मिला है। अब अगर दो-तीन साल कोई तालाब भरता नहीं है, तो लोगों को लगता है, तालाब का कोई मतलब नहीं है, तालाब को भर देना चाहिए। लेकिन इसमें कोई दो राय नहीं कि तालाब या जल भंडार की प्रणाली हमारे जीवन के लिए बहुत जरूरी है। जब हमने इस प्रणाली की इज्जत करना छोड़ दिया, तो हम पाते हैं कि कुछ घंटों की थोड़ी-सी भी ज्यादा बरसात में हमारे सभी चमक-दमक वाले शहर दिल्ली, मुंबई, जयपुर, अहमदाबाद, बेंगलुरु, भोपाल सब डूबने लगते हैं। पानी के सड़कों पर जमा होने का हल्ला हो जाता है। हमारे इन सभी आधुनिक बन गए शहरों में आज से 30-40 साल पहले तक सुंदर-सुंदर बड़े-बड़े तालाब हुआ करते थे और ये शहर में होने वाली वर्षा के अतिरिक्त जल को अपने में रोककर पहले उसको बाढ़ से बचाते थे और फिर छह महीने बाद आ सकने वाले जल संकट को भी थामते थे, लेकिन जमीन के प्रति हमारे लगातार बढ़ते लालच और हमारी नई राजनीति ने इन सब जगहों पर कब्जा किया है और उन पर सुंदर जगमगाते मॉल, बाजार, हाउसिंग सोसायटी आदि बना दिए हैं। इसलिए दो घंटे की तेज बरसात भी इन इलाकों को डुबोकर हमें याद दिलाती है कि हम उसके रास्ते में खड़े हो रहे हैं।

आज हर बात की तरह पानी की राजनीति भी चल निकली है। पानी तरल है, इसीलिए उसकी राजनीति भी जरूरत से ज्यादा बहने लगी है। देश का ऐसा कोई हिस्सा नहीं है, जिसे प्रकृति उसके लायक पानी न देती हो, लेकिन आज दो घरों, दो गांवों, दो शहरों, दो राज्यों और दो देशों के बीच भी पानी को लेकर एक न एक लड़ाई हर जगह मिलेगी। मौसम विशेषज्ञ बताते हैं कि देश को हर साल मानसून का पानी निश्चित मात्रा में नहीं मिलता, उसमें उतार-चढ़ाव आता रहता है, लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि



तालाब, बावड़ी जैसे पुराने तरीकों की विकास की नई योजनाओं में बहुत उपेक्षा हुई है। न सिर्फ शहरों में, बल्कि गांवों में भी तालाबों को समतल कर मकान, दुकान, मैदान बस स्टैंड बना लिए गए हैं। जो पानी यहां रुककर साल भर ठहरता था, उस इलाके के भूजल को ऊपर उठाता था, उसे हमने नष्ट कर दिया है। उसके बदले हमने आधुनिक ट्यूबवेल, नलकूप, हैंडपंप लगाकर पानी निकाला है। लेकिन डालना बिल्कुल बंद किया और निकालने की गति राक्षसी कर दी और मानते रहे कि सब कुछ हमारे अनुकूल चलेगा, लेकिन अब प्रकृति हमें हर साल चिट्ठी भेजकर याद दिला रही है कि हम गलती कर रहे हैं। इसकी सजा भुगतनी होनी। कभी पानी का प्रबंध और उसकी चिंता हमारे समाज के कर्तव्य-बोध के विशाल सागर की एक बूंद थी।



प्रकृति 'आईएसआईमार्का' तराजू लेकर पानी बांटने निकलने वाली पनिहारिन नहीं है। तीसरी-चौथी कक्षा से हम सब जलचक्र पढ़ते हैं-अरब सागर से कैसे भाप बनती है, कैसे आती है, कैसे मानसून की हवाएं बादलों को हिमालय तक लाकर, जगह-जगह पानी गिराती हैं, हमारा किसान भी जानता है। ऐसी बड़ी व्यवस्था में प्रकृति को मानक ढंग से पानी गिराने की परवाह नहीं रहती। फिर भी पृथ्वी पर



एकरूपता बनी रहती है।

तालाब, बावड़ी जैसे पुराने तरीकों की विकास की नई योजनाओं में बहुत उपेक्षा हुई है। न सिर्फ शहरों में, बल्कि गांवों में भी तालाबों को समतल कर मकान, दुकान, मैदान बस स्टैंड बना लिए गए हैं। जो पानी यहां रुककर साल भर ठहरता था, उस इलाके के भूजल को ऊपर उठाता था, उसे हमने नष्ट कर दिया है। उसके बदले हमने आधुनिक ट्यूबवेल, नलकूप, हैंडपंप लगाकर पानी निकाला है। लेकिन डालना बिल्कुल बंद किया और निकालने की गति राक्षसी कर दी और मानते रहे कि सब कुछ हमारे अनुकूल चलेगा, लेकिन अब प्रकृति हमें हर साल चिढ़ी भेजकर याद दिला रही है कि हम गलती कर रहे हैं। इसकी सजा भुगतनी होनी। कभी पानी का प्रबंध और उसकी चिंता हमारे समाज के कर्तव्य-बोध के विशाल सागर की एक बूंद थी।

सात समुंदर पार से आए अंग्रेजों को न तो समाज के कर्तव्य-बोध का विशाल सागर दिख पाया, न उसकी बूंदें। उन्होंने अपने यहां के अनुभव और प्रशिक्षण के आधार पर यहां के राज प्रशासन में जल प्रबंधन के दस्तावेज खोजने की कोशिश की, लेकिन वैसे रिकार्ड राज में रखे नहीं जाते थे। इसलिए उन्होंने मान लिया कि यहां सारी व्यवस्था उन्हीं को करना है, यहां तो कुछ है ही नहीं। पिछले दौर के अभ्यस्त हाथ अकुशल कारीगरों में बदल दिए गए। बहुत से लोग, जो गुनीजनखाना यानी गुणी माने गए जनों की सूची में थे, अनपढ़, असभ्य, अप्रशिक्षित माने जाने लगे।

पानी की राजनीति ने प्रकृति के स्वभाव को भूलने की अक्षम्य गलती की है। इसलिए हम प्रकृति से क्षमा नहीं पा सके हैं। हमने विकास की दौड़ में सब जगह एक सी आदतों का संसार रच दिया है, पानी की एक जैसी खर्चीली मांग करने वाली जीवनशैली को आदर्श मान लिया है। अब सबको एक जैसी मात्रा में पानी चाहिए और जब नहीं

मिल पाता तो हम सारा दोष प्रकृति पर, नदियों पर थोप देते हैं। अब हमारे सामने नदियों को जोड़ने की योजना भी रखी गई है। देश के जिस भूगोल ने लाखों साल की मेहनत से इस कोने से उस कोने तक तरह-तरह से छोटी-बड़ी नदियां निकाली, अब हम उसे दोष दे रहे हैं और चाहते हैं कि एक नदी कश्मीर से कन्याकुमारी तक क्यों नहीं बही? अभी भी करने लायक छोटे-छोटे कामों के बदले अरबों रुपए की योजनाओं पर बात हो रही है। इस गोद में कुछ ही पहले तक हजारों नदियां खेलती थीं, उन सबको सुखाकर अब हम चार-पांच नदियों को जोड़कर उनका पानी यहां-वहां ले जाना चाहते हैं।

जल संकट प्रायः गरमियों के दिनों में आता था, अब वर्ष भर बना रहता है। ठंड के दिनों में भी शहरों में लोग नल निचोड़ते मिल जाएंगे। राजनीतिक रूप से जो शहर थोड़े संपन्न और जागरूक हैं, उनकी जरूरत पूरी करने के लिए पानी पड़ोस से उधार भी लिया जाता है और कहीं-कहीं तो चोरी से खींच लिया जाता है लेकिन बाकी पूरा देश जलसंकट से उबर नहीं पाता। इस बीच कुछ हजार करोड़ रुपए खर्च करके जलसंग्रह, पानी-रोको, जैसी कई योजनाएं सामने आई हैं। वाटरशेड डेवलपमेंट अनेक सरकारों और सामाजिक संगठनों ने अपनाकर देखा है, लेकिन इसके खास परिणाम नहीं मिल पाए। शायद एक बड़ी गलती हमसे यह हो रही है कि हमने पानी रोकने के समयसिद्ध और स्वयंसिद्ध तरीकों को पुराना या परंपरागत करार देकर छोड़ दिया है। यदि कुछ लाख साल से प्रकृति ने पानी गिराने का तरीका नहीं बदला है तो हम भी उसके सेवन के तरीके नहीं बदल सकते। 'आग लगने पर कुआं खोदना' पुरानी कहावत है। यही हम करते आ रहे हैं। प्यास लगती है, अकाल की आग लगती है, तो सरकार और समाज कुआं निकलता भी है पर सरकारी आयोजनों और योजनाओं में इस पानी का रंग कुछ और ही दिखता है।

(साभार : पीपुल्स समाचार)



ग्लोबलाइजेशन की चुनौती है सुशासन

• डॉ. भरत झुनझुनवाला

वास्तव में गवर्नेन्स का ग्लोबलाइजेशन हो चुका है। पहले भ्रष्टाचार को सह सकते थे। क्योंकि तब सस्ती चीजों के आयात पर प्रतिबंध था। लेकिन अब देश में पहले से चला आ रहा भ्रष्टाचार समस्या बन गया है। भ्रष्टाचार के कारण हमारे उत्पाद महंगा हैं और दूसरे सुशासित देशों में बना सस्ता माल देश में प्रवेश कर रहा है। यही सुशासित देशों के सस्ता माल हमारी अर्थव्यवस्था चौपट कर रहा है।

ग | णतंत्र दिवस पर माननीय राष्ट्रपति प्रणव मुखर्जी ने हमें ध्यान दिलाया था कि हमारी सरकारें जनता की अपेक्षा पर खरी नहीं उतर रहीं हैं फलस्वरूप देश में असंतोष व्याप्त है। यही कहानी आर्थिक क्षेत्र की है। पिछले पांच वर्षों में अर्थव्यवस्था में आ रही गिरावट के पीछे कुशासन ही दिखाई देता है। विकास दर लगातार गिर रही है, महंगाई बढ़ती जा रही है और रुपया टूट रहा है। महंगाई बढ़ने का कारण है सरकार द्वारा अपने राजस्व का लीकेज किया जा रहा है। जैसे सरकार का राजस्व एक करोड़ रुपया हो उसमें 20 लाख रुपए का रिसाव करके अफसरों तथा नेताओं के द्वारा सोना खरीद लिया गया। अब सरकार के पास वेतन आदि देने के लिए रकम नहीं बची। इन खर्चों को पोषित करने के लिए सरकार ने बाजार से ऋण लिए। इस ऋण को लेना आसान बनाने के लिए रिजर्व बैंक ने नोट छापे जिससे मुद्रा बाजार में रकम की उपलब्धता बढ़ जाए और सरकार आसानी से ऋण ले सके। पहले ही एक करोड़ के नोट प्रचलन में थे। अब 20 लाख के नोट और चक्कर काटने लगे। फलस्वरूप आलू,

सीमेंट, कपड़ा आदि सभी वस्तुओं के दाम बढ़ने लगे जैसे मंडी में आलू की सप्लाई पूर्ववत् हो और खरीददार ज्यादा आ जाएं तो दाम बढ़ जाते हैं। नए छापे गए नोटों की भूमिका खरीददार जैसी होती है। इस प्रकार लीकेज के कारण नोट छापने पड़े और महंगाई बढ़ रही है।

ग्रोथ रेट के गिरने का कारण भी रिसाव है। ग्रोथ रेट बढ़ाने के लिए व्यक्ति को खपत कम और निवेश ज्यादा करना पड़ता है। जैसे दुकानदार 2000 कमाए और 1000 निवेश करे तो ग्रो करता है। इसके विपरीत यदि वह 2000 कमाए और ऋण लेकर 3000 खर्च करे तो वह फिसलने लगता है। पिछले दशक में सरकार ने लोन वेवर, मनरेगा तथा राइट टू फूड के माध्यम से ऐसे ही खर्चों को पोषित किया है। हाईवे और रिसर्च में निवेश में कटौती की गई है। इससे गरीब को राहत जरूर मिली है लेकिन ग्रोथ दबाव में आ गई है और जनता बेराजगार है। लोगों को रोजगार देने के स्थान पर अनाज बांट कर उनका वोट खरीदना कुशासन ही है।

रुपए के टूटने के कारण भी कुशासन है। हमारे



वैश्विक परिस्थितियों का भी 2014 पर प्रभाव पड़ेगा। मुद्दा अमरीका की चाल का है। वर्ष 2008 के बाद अमरीका के केन्द्रीय बैंक ने निवेशकों से त्रण लेकर भारी-भरकम स्टिमुलस पैकेज लागू किया है। हमारी तरह अमरीकी सरकार के खर्च ज्यादा और रेवेन्यू कम है। सरकार द्वारा ऋण लेकर काम चलाया जा रहा है। इस स्टिमुलस के आधार पर अमरीकी अर्थव्यवस्था में ग्रोथ दिख रही है जैसे बीमार को ग्लूकोज चढ़ाया जाए तो कुछ समय के लिए वह उठ खड़ा होता है।

माल की उत्पादन लागत ज्यादा आती है। हमारे उद्यमियों को भारी मात्रा में घूस देनी पड़ती है अतः माल महंगा हो जाता है। वे माल का निर्यात नहीं कर पाते हैं जबकि दूसरे देशों में माल की लागत कम आती है और उनका माल सस्ता पड़ता है। निर्यात कम होने के कारण हमें डालर कम मात्रा में मिलते हैं। आयात ज्यादा होने के कारण डालर की डिमांड ज्यादा होती है। सप्लाई और डिमांड के असन्तुलन के कारण डालर महंगा हो जाता है और तुलना में रुपया सस्ता हो जाता है। इस प्रकार हमारी सभी समस्याओं की जड़ में भ्रष्टाचार और कुशासन ही नजर आता है।

वास्तव में गवर्नेन्स का ग्लोबलाइजेशन हो चुका है। पूर्व में हम अपनी सरहद के अन्दर भ्रष्टाचार को पोषित कर सकते थे। भ्रष्टाचार के कारण भारत में मोबाइल फोन 5,000 रुपए में मिले जबकि दूसरे देशों में वह 4,000 रुपए में मिले तो व्यवस्था गड़बड़ाती नहीं थी चूंकि सस्ते मोबाइल के आयात पर प्रतिबन्ध था। अब वही भ्रष्टाचार समस्या बन गया है चूंकि दूसरे सुशासित देशों में बना सस्ता माल प्रवेश कर रहा है और हमारी अर्थव्यवस्था चौपट हो रही है। ग्लोबलाइजेशन के इस दौर में जो देश सुशासित होगा वही जीतेगा। अब हमारे पास अपनी शासन प्रणाली को ग्लोबल स्टैण्डर्ड पर सुधारने के अलावा कोई चारा नहीं है। इसके लिए राजनीतिक और देश के नागरिकों की मानसिकता का सुशासन पर केंद्रित होना भी आवश्यक है। इसके लिए एक उदाहरण दिया जा सकता है, जैसे स्वीमिंग पूल में ढकेले जाने के बाद तैरने के अलावा कोई विकल्प नहीं रहता है उसी प्रकार ग्लोबलाइजेशन में किसी देश की अर्थव्यवस्था ढकेले जाने के बाद उस देश के लिए सुशासन के अलावा कोई विकल्प नहीं बचा है।

इस परिप्रेक्ष्य में हाल ही में चुनावों में भाजपा एवं 'आप' की सफलता से आशा बंधती है। मोदी ने गुजरात में भ्रष्टाचार पर अप्रत्याशित नियंत्रण स्थापित किया है। 'आप' की सादगी से भी आशा बंधती है। अतः मैं 2014 के लिए आशान्वित हूँ। इन दोनों में से एक की सरकार बनने से रिसाव कम होगा और अर्थव्यवस्था स्वयं चल निकलेगी।

वैश्विक परिस्थितियों का भी 2014 पर प्रभाव पड़ेगा। मुद्दा अमरीका की चाल का है। वर्ष 2008 के बाद अमरीका के केन्द्रीय बैंक ने निवेशकों से त्रण लेकर भारी-भरकम स्टिमुलस पैकेज लागू किया है। हमारी तरह अमरीकी सरकार के खर्च ज्यादा और रेवेन्यू कम है। सरकार द्वारा ऋण लेकर काम चलाया जा रहा है। इस स्टिमुलस के आधार पर अमरीकी अर्थव्यवस्था में ग्रोथ दिख रही है जैसे बीमार को ग्लूकोज चढ़ाया जाए तो कुछ समय के लिए वह



उठ खड़ा होता है। लेकिन ऋण लेने की एक सीमा है जैसे ग्लोकॉज चढ़ाकर मरीज को ज्यादा दिन तक स्वस्थ नहीं किया जा सकता है। इस बढ़ते ऋण के दूरगामी दुष्प्रभाव को देखते हुए अमरीका के केन्द्रीय बैंक ने स्टिमुलस की मात्रा घटाने का निर्णय लिया है। प्रश्न है कि स्टिमुलस की इस टेपरिंग को अमरीकी अर्थव्यवस्था झेल पायेगी या नहीं? तमाम विश्लेषकों का मत है कि वर्तमान ग्रोथ टिकाउ होगी। अमरीकी ग्रोथ से हमारे माल की मांग बढ़ेगी और हमें इसका लाभ मिलेगा। हमारे निर्यात सुदृढ़ होंगे और हमारी अर्थव्यवस्था चल निकलेगी।

यह बात सही है परन्तु टेपरिंग का हमारे पर दूसरा दुष्प्रभाव भी पड़ेगा। अमरीका में ब्याज दर बढ़ेगी और निवेशक भारत से पैसा निकालकर अमरीका में निवेश करना पसन्द करेंगे। इस प्रकार अमरीकी अर्थव्यवस्था में

ग्रोथ का हम पर मिलाजुला असर पड़ेगा। हमारे निर्यात बढ़ेंगे जबकि विदेशी निवेश घटेगा। ऐसा ही मिलाजुला प्रभाव अमरीका के संकटग्रस्त होने का पड़ेगा। तब हमारे निर्यात दबाव में आयेंगे जबकि हमें विदेशी निवेश ज्यादा मिलेगा जैसा कि 2009 के बाद होता आया है। अतः मेरे आकलन में स्टिमुलस की टेपरिंग हमारे लिए अप्रासंगिक है।

निष्कर्ष है कि 2014 की एक मात्रा चुनौती सुशासन की है। गवर्नेस को ग्लोबल स्टैण्डर्ड्स पर लाने के अतिरिक्त दूसरा विकल्प नहीं है। सुशासन स्थापित होगा तो हमारी अर्थव्यवस्था स्वतः चल निकलेगी। अन्यथा हम इसी तरह अपनी घरेलू नाकामयाबी को वैश्विक कारणों पर अनायास थोपते रहेंगे।

(साभार : पीपुल्स समाचार)



- "I cannot give you the formula for success, but I can give you the formula for failure: which is: Try to please everybody."

-Herbert B. Swope





आधुनिक विकास निगल रहा है आदिवासीयों का भोजन

● बाबा मायाराम

मक्का और ज्वार की रोटी भी ठंड के दिनों में पसंद की जाती है, जो पाचक होने के साथ तासीर में गरम होती है। डोंगची कांदा, कनिहा कांदा खाने से भूख नहीं लगती। गीठ कांदा, जिससे पीलिया जैसी बीमारी ठीक हो जाती है। बैगाओं के भोजन में पेज प्रमुख है। पेज एक तरह से सूप की तरह होता है। बैगा पूरे साल पेज पीते हैं। पेज कम अनाज में पेट भरने का उपाय भी है। अनाज कम और पानी ज्यादा। यदि पेज बनते समय दो मेहमान भी आ जाएं, तो उतने ही अनाज में पानी की मात्रा बढ़ा दी जाती है।

गया | रह जनवरी की सुबह डिंडौरी के गौरा गांव में गोबर से लिपे-पुते आंगन में बैगा आदिवासी बैठे थे। ये अपने-अपने घर से पारंपरिक अनाजों से भोजन बनाकर लाए हैं। कोई ज्वार की रोटी लाया है, तो कोई कुटकी का भात। कोई मक्के की रोटी, तो कोई महुआ का लड्डू, डोंगजी कांदा, बैचांदी कांदा व विरार कांदा, तो कोई सलहार का पेज।

मैंने इन्हें देखा, तो देखता ही रह गया। इनकी रंग-विरंगी पोशाकों की तरह ही इनके भोजन व व्यंजन थे। न केवल ये रंग-रूप में भिन्न थे, इनमें विविधता थी। पौष्टिकता से भरपूर और स्वाद में भी बेजोड़ थे। पूरा संतुलित भोजन था। माहुल के पत्तों में व्यंजनों को सजाया गया था। साथ में कागज पर स्केच पेन से नाम भी लिखा गया था। यहां ढाबा, अजगर, तलाईडवरा, कांदाबानी, गौरा-कन्हानी, जीलंग और चपवार आदि गांवों के लोगों ने हिस्सा लिया। वे उनकी बेंवर खेती में होने वाले पारंपरिक अनाजों के व्यंजन के साथ ही विभिन्न प्रकार की साग-सब्जी लेकर आए थे, जिनमें कंद-मूल, पत्ते, फूल व मोटे अनाज शामिल थे।

आंगन में बिछी खाट पर कोदो, कुटकी, मड़िया,

सलहार का पेज, भात, रोटी, खीर, मक्का के लड्डू, लाई, महुआ के लाटा-लड्डू रखे थे। माहुल के पत्तों में जंगल में मिलने वाले डोंगजी कांदा, कडू गीठ कांदा, बैचांदी कांदा, विरार कांदा, बड़ाईन कांदा की सब्जी थी। हरी भाजियां, जैसे-सिरोती, पनिहारी, पुटपुरा, जयमंगल भाजी, दोबे भाजी, कुंझरी भाजी, पताल और अमटा की चटनी, मशरूम सहित लगभग 98 प्रकार के व्यंजनों की प्रदर्शनी लगाई गई थी। ढाबा गांव के लालसाय ने बताया कि हम कोदो का भात ठंड में खाते हैं, इसकी तासीर गरम होती है और बहुत पौष्टिक होता है। कोदो को महिलाओं को जचकी के दौरान खिलाया जाता है। कुटकी का पेज गरमी में पीते हैं, जो शरीर को ठंडा रखता है।

इसी प्रकार मक्का और ज्वार की रोटी भी ठंड के दिनों में पसंद की जाती है, जो पाचक होने के साथ तासीर में गरम होती है। डोंगची कांदा, कनिहा कांदा खाने से भूख नहीं लगती। गीठ कांदा, जिससे पीलिया जैसी बीमारी ठीक हो जाती है। बैगाओं के भोजन में पेज प्रमुख है। पेज एक तरह से सूप की तरह होता है। बैगा पूरे साल पेज पीते हैं। पेज कम अनाज में पेट भरने का उपाय भी है। अनाज कम और पानी ज्यादा। यदि पेज बनते समय दो मेहमान



भी आ जाएं, तो उतने ही अनाज में पानी की मात्रा बढ़ा दी जाती है।

पेज कई अनाजों से बनता है। मक्का, कोदो, कुटकी आदि से पेज बनाया जाता है। अनाजों को दलिया की तरह कूटकर उसे गरम पानी में उबाला जाता है और नमक डालकर तैयार किया जाता है। जीलंग गांव के जुमेलाल ने बताया कि मड़िया बहुत पौष्टिक होता है, जिससे कमजोरी दूर होती है। मुनगा की भाजी खाने से बहुत भूख लगती है, जिससे भरपेट भोजन खाया जा सके। यह पाचन के लिए बहुत उपयोगी होती है। बांस की करील भाजी भी कमजोरी दूर करती है और इसे जचकी के दौरान महिलाओं को खिलाने से फायदा होता है। उन्हें भूख बहुत लगती है और वे भरपेट भोजन कर पाती हैं। गर्मी के समय शरीर को ठंडा रखने के लिए अमटा की चटनी खाते हैं। हमारे पूर्वज कांदा खाते थे, बीच में हमने कांदा खाना छोड़ दिया, अब कांदा जरूरी है। अगर हम कुटकी का भात और कांदा न खाएं, तो पेट ही नहीं भरता।

गौरा-कन्हारी के सरपंच रामलाल तेकाम ने कहा कि पहले अस्पताल थे ही नहीं, हमारे बुजुर्ग जड़ी-बूटियों से ही इलाज करते थे और लोग भी बीमार कम पड़ते थे। उनके पास बहुत अच्छा ज्ञान था, जिसे हम भूल रहे हैं। इसे बचाने की जरूरत है। वे बताते हैं कि पहले जंगल से बहुत सी चीजें खाने को मिलती थीं और जैव विविधता की दृष्टि से भी ये महत्वपूर्ण थीं। माहुल के बारे में उन्होंने कहा कि बहुत उपयोगी होती है। इसकी बेल होती है, जो पेड़ों से लिपटी रहती है और एक-दूसरे पेड़ों में फैलती जाती है। माहुल के पत्तों से दोना-पत्तल, छाते, टोपी, बक्कल (रस्सी की तरह) और टोपी बनाई जाती है। माहुल का फल भी खाते हैं। मगर, अब वन विभाग की कूप कटाई के कारण माहुल धीरे-धीरे खत्म होता जा रहा है।

इस तरह कई पेड़-पौधे और जीवों की प्रजातियां खत्म हो रही हैं। चपवार की भागवती ने कहा कि कुटकी पेज पीने से जचकी के दौरान महिलाओं को फायदा होता

है। इसी प्रकार कई प्रकार की हरी भाजियां खाने से फायदा होता है। जयमंगल ने भाजी के बारे में कहा कि वह ठंडी होती है, जिसे गरमी में खाते हैं। यहां मशरूम की कई किस्मों में जंगल में मिलती हैं। इन्हें सुखाकर एकत्र किया जाता है और फिर सब्जी बनाकर खाते हैं। भागवती ने मुझे भी सूखे मशरूमों की माला भेंट में दी। यहां प्रदर्शित व्यंजनों में महुआ लाटा, घुईफल की सब्जी, आंवला चटनी, राहर और उड़द बड़ा, डूमर फल की सब्जी, चेंच की भाजी, पतालीचटनी, रमतीला की चटनी, लोरिंग कांदा भूज, चकोड़ा भाजी, कोदो-कुटकी का चीला, गीठ कांदा, भूत कांदा, खिर कांदा, रवि कांदा, रताल कांदा, डोंगजी कांदा, सरई पिहरी आदि शामिल थे। इनमें से कुछ कांदों को कच्चा, कुछ को आलू की तरह उबालकर तथा कुछ की भाजी बनाकर खाते हैं।

इस अनोखी प्रदर्शनी के प्रमुख और बीज विरासत अभियान व कार्यक्रम के संयोजक नरेश विश्वास ने कहा कि बैगाओं के पारंपरिक मिश्रित खेती में खाद्य सुरक्षा तो होती है, स्वास्थ्य सुरक्षा के साथ मवेशियों के लिए भरपूर चारा और भूसा उपलब्ध होता है। जलवायु बदलाव के दौर में भी मिश्रित खेती की उपयोगिता और बढ़ गई है, जिसमें प्रतिकूल मौसम को झेलने की क्षमता होती है। विश्वास बैगाओं की पारंपरिक मिश्रित खेती की विविधता को बचाने और उनके इस खेती के अनाजों की उपयोगिता तथा उनके पारंपरिक जंगल आधारित खान-पान के ज्ञान को सहेजकर नई पीढ़ी तक पहुंचाने के प्रयास में जुटे हैं। हालांकि, पिछले कुछ बरसों में यह देखने में आया है कि जंगल में खाद्य पदार्थों की कमी होती जा रही है और बैगा भी अपने खेतों में मिश्रित व बेंवर (बिना जुताई) कम करते हैं, इसलिए उनके भोजन में विविधता, पोषक तत्वों की कमी ही रही है। उनकी खाद्य सुरक्षा के साथ पोषण सुरक्षा भी जरूरी है। ऐसे में बीज विरासत अभियान जैसे प्रयास उपयोगी, सार्थक व अनुकरणीय हैं।

(साभार : राज एक्सप्रेस)



कितनी सुरक्षित महिलाएं?

● इंदर मलहोत्रा

कहने को तो महिला सुरक्षा को लेकर सरकार ने कानून बना दिए हैं। सरकार अपनी ओर से दावा भी करती है कि सबकुछ ठीक चलेगा, महिलाएं महफूल रहेंगी। पर अपराधी है कि पुलिस और सरकार के दावे को ठेंगा दिखाते हुए अपनी धिनौनी करतूतों को अंजाम दे जाते हैं। आज कानून बनाने से ज्यादा जरूरत उसके क्रियान्वयन की है।

सो | लह दिसंबर 2012 को दिल्ली में 23 वर्षीय छात्रा के साथ बस में किए गए बर्बर गैंगरेप और हत्या से पूरा देश आक्रोशित हो उठा था। घटना के एक साल पूरा होने पर दिल्ली समेत अन्य शहरों में प्रदर्शन किए गए। इस घटना ने पूरे देश को आक्रोशित कर दिया था। लेकिन विडंबना तो यह है कि पूरे देश में लाचार महिलाओं के साथ ऐसी घटनाओं की एक झड़ी-सी लग गई। ये छिटपुट घटनाएं नहीं थीं, बल्कि महिलाओं को देवीशक्ति मानने वाले देश की पृष्ठभूमि को दर्शाती थीं।

हाल में देश की राजधानी में डेनमार्क की एक महिला, जो अपने होटल का रास्ता भूल गई थी, के साथ कुछ युवकों ने गैंगरेप किया। इन युवकों ने इस महिला से सहायता करने का वादा किया था। 'जंगली' युवकों ने उसके साथ लूटपाट भी की। कोलकाता में एक 16 साल की लड़की के साथ सामूहिक बलात्कार करने के बाद उसे जिंदा जला दिया जाता है। पीड़िता के माता-पिता कोर्ट से सहायता की गुहार लगाते हैं, क्योंकि पुलिस दोषियों के खिलाफ कोई भी कार्रवाई नहीं कर रही होती है। देश में ऐसे उपदेश देने वालों की कोई कमी नहीं, जो यह कहते हैं कि पाश्चात्य देशों की तरह उत्तेजक कपड़े पहने से बलात्कार

की घटनाएं बढ़ी हैं। कुछ शिक्षण संस्थाओं ने अपने परिसर में जींस पहनने पर रोक लगा दी है। ऐसा तब हुआ जब उत्तर प्रदेश के एक विधायक ने कहा, दक्षिण भारत में बलात्कार की घटनाएं कम होती हैं, क्योंकि वहां महिलाएं पूरे कपड़े पहनती हैं। इसके बाद ही चेन्नई से एक भयानक घटना की खबर आई। एक गरीब महिला के साथ पहली बार कुछ ठगों ने बलात्कार किया और दूसरी बार अन्य अपराधियों के गिरोह ने बलात्कार किया। यह एक उदाहरण मात्र है। इसका सीधा सा मतलब है कि दिल्ली की 2012 की घटना के बाद आनन-फानन में बनाए गए सख्त कानून को लागू नहीं किया जा सका है, क्योंकि पुलिस इसके प्रति उदासीन है और गलियों में पुलिस का गश्त नहीं करना बलात्कारियों के लिए वरदान साबित हो रहा है।

हाल में डेनमार्क की महिला के साथ जो बलात्कार की घटना हुई, वह दिल्ली रेलवे स्टेशन के नजदीक 'स्टेट इंट्री रोड' के पास हुई। यह वही स्थान है जहां कभी ब्रिटिश वायसराय अपनी स्पेशल ट्रेन चलाया करते थे। यह पूरी तरह से सुनसान इलाका था। इस स्थान के आसपास चार पीसीआर वैन तैनात थीं।

ऐसा माना जाता है कि केवल दस में से एक बलात्कार



का मामला ही सामने आ पाता है। यह अनुपात निश्चित रूप से पहले से ही चला आ रहा है। आज महिलाएं पहले की तुलना में अपने अधिकारों को लेकर ज्यादा सजग हो रही हैं। उनको कई सामाजिक संगठनों के साथ-साथ समाज के प्रबुद्ध वर्ग का भी साथ मिल रहा है। सरकारी आंकड़ों के अनुसार 1971 में केवल 2,487 बलात्कार के मामले सामने आए थे, जबकि 2011 में यह दस गुना बढ़कर 24,206 हो गए।

इसी वर्ष 35,565 महिलाओं और लड़कियों का अपहरण किया गया, 42,968 के साथ छेड़खानी की गई और 8,570 महिलाएं यौन उत्पीड़न की शिकार हुईं। चौंकाने वाला तथ्य तो यह है कि करीब एक लाख महिलाओं का उत्पीड़न उनके नजदीकियों और संबंधियों द्वारा किया गया। डेनमार्क की वह पहली विदेशी महिला नहीं है, जो सामूहिक बलात्कार की शिकार हुई है। पहले भी ऐसी घटनाएं होती रही हैं। मई 2013 में मध्यप्रदेश में स्विट्जरलैंड की महिला का बलात्कार किया गया और उसके पति के साथ मारपीट की गई। आगरा में ब्रिटिश महिला अपनी मैनेजर से बचने के लिए अपने कमरे की खिड़की से नीचे कूद गई, जिससे वह गंभीर रूप से घायल हो गई। पोलैंड की महिला से नशे की हालत में कई बार बलात्कार किया गया। एक विदेशी राजनयिक महिला के साथ दिल्ली के सीरीफोर्ट सभागार की पार्किंग में तब बलात्कार किया गया, जब वह सांस्कृतिक कार्यक्रम देखकर निकली थी।

महिला अधिकारों को लेकर संघर्ष करने वाली एक सामाजिक कार्यकर्ता वृंदा ग्रोवर के अनुसार विदेशी महिलाएं आसानी से शिकार हो जाती हैं, क्योंकि वे पहले से सावधान नहीं होती हैं, जबकि भारतीय महिलाएं पुरुष प्रधान समाज की संस्कृति से अपने आप की सुरक्षा के उपाए ढूंढ़ चुकी होती हैं। कोई आश्चर्य नहीं कि भारत का नाम इन घटनाओं के चलते पूरे विश्व में बदनाम हुआ है।

पर्यटन मंत्रालय के कुछ चालाक नौकरशाह पर्यटकों को लुभाने के अतुल्य भारत का नारा देते हैं। भारत तो

सजा की दर भी कम

एनसीआरबी की रिपोर्ट के अनुसार 2012 के बलात्कार के मामलों में 36 प्रतिशत ऐसे थे जिनमें अवयस्क बच्चियां शिकार हुईं। रिपोर्ट के मुताबिक पुलिस केवल 60 प्रतिशत मामलों में ही जांच पूरी कर पाई। इनमें से भी अदालतें 12.6 प्रतिशत मामलों को ही निपटा सकीं। शेष मामले न्यायालयों में लंबित थे। दूसरी ओर 2011 की तुलना में सजा होने का प्रतिशत भी 4.8 प्रतिशत से घटकर 24.2 प्रतिशत पर आ गया। इसका अर्थ यह हुआ कि अदालत तक पहुंचने वाले चार मामलों में से तीन में आरोपी बच जाते हैं।

अतुल्य हुआ है, लेकिन किसी दूसरे क्षेत्र में। इन घटनाओं के परिणामस्वरूप देश में अधिक पर्यटक आने के बजाए कम हो रहे हैं। इनके देशों की सरकारें अपने नागरिकों को मुख्य रूप से महिलाओं को भारत भ्रमण के लिए सावधान करती हैं। यह बड़े दुख की बात है कि केन्द्र और राज्य सरकारें अपने उत्तरदायित्व का पालन नहीं कर पा रही हैं। नेताओं को अधिक बयानबाजी की बजाए महिलाओं और बच्चों की सुरक्षा पर अधिक ध्यान देना चाहिए। और यह संयोग ही है कि जब मैं यह लेख लिख रहा हूँ, उसी समय कोलकाता से एक दूसरी कष्टदायक बलात्कार की खबर आ रही है। यह ममता बनर्जी को अहसास करने का समय है कि बलात्कार की घटनाओं में सजा नहीं मिलने और इसकी उपेक्षा करने से सरकार की छवि खराब होगी।

(साभार : पत्रिका)



महिला मुद्दों का हिस्सा हैं बालिकाएं

● अनीता भारती

जब हम बालिकाओं की बात करते हैं तो यह बात महिलाओं तक भी जाती है। भारतीय समाज महिलाओं के प्रति सहयोग की जगह पूजा की भावना होती है। इससे महिलाओं के प्रति अपराध और यथार्थ कुछ भी नहीं बदलता। भारतीय महिलाओं को स्वतंत्रता तो उपलब्ध है लेकिन उसके उपयोग के लिए सामाजिक-प्रशासनिक परिवेश भी हासिल करना है।

आज की बालिकाएं जो कि कल की औरतें हैं, उनके लिए समानता या स्वतंत्रता की बात होती है, तब भारतीय पुरुषों का तर्क होता है- हमारे यहां तो पहले से ही औरतों का बड़ा सम्मान है। हमारे यहां तो औरतों को देवी माना जाता है। हमें पश्चिम की तरह बनने की जरूरत नहीं। देखो पश्चिम की संस्कृति। वहां औरतों को आजादी मिली तो कैसे घर टूटने लगे। तलाक के केसेज बढ़ने लगे। आदि। उसके बाद तर्क होगा कि वहां औरतों के खिलाफ यौन-हिंसा के मामले भारत से बहुत अधिक हैं। लेकिन दूसरी तरफ हम अपने यहां बालिकाओं को देखें तो बेहद अफसोस होता है।

एक अनुमान के अनुसार भारत में पिछले दस वर्षों में करीब डेढ़ करोड़ लड़कियों को जन्म से पहले ही मार डाला गया या फिर पैदाइश के बाद 6 वर्षों के अंदर ही उनको मौत के मुंह में धकेल दिया गया। भारत के जनसंख्या आयुक्त और महापंजीयक के अनुसार 1981 की तुलना में लड़कियों की संख्या 1000 लड़कों के मुकाबले में 960 थी जो अब गिरकर 927 पर आ गई है। उत्तरी राज्यों में तो यह संख्या 780 तक गिर गई है। इस प्रकार के परीक्षण अल्ट्रासाउण्ड के जरिए भी किए जा सकते हैं। बच्चों की वीमारियों के विशेषज्ञ डॉ. पुनीत बेदी को खेद व्यक्त करते

हुए कहते हैं कि भारत में लगभग 30,000 डॉक्टर पैसे के लालच में तकनीक का दुरुपयोग कर रहे हैं।

केन्द्र सरकार में स्वास्थ्य और परिवार कल्याण विभाग के संयुक्त सचिव कांग इस तथ्य से सहमत हैं। उनका कहना है, देश में 22,000 ऐसे क्लीनिक हैं जहां इस प्रकार के परीक्षण कराए जा सकते हैं। हमारे पास इतने साधन नहीं कि हम इन पर निगरानी रख सकें। लड़कियों को जन्म से पहले मारने की प्रथा उन क्षेत्रों में भी बढ़ हो रही है जो अब तक इससे बचे हुए थे। लड़कियों के प्रति इस नकारात्मक स्वभाव के गंभीर सामाजिक और अन्य प्रभाव हो सकते हैं। गैर सरकारी संगठनों ने - महिला उत्थान अध्ययन केन्द्र और सेंटर फॉर एडवोकेसी एंड रिसर्च ने एक संयुक्त प्रकाशन में चेतावनी दी है कि यदि महिलाओं की संख्या इसी तरह घटती रही तो महिलाओं के खिलाफ हिंसात्मक घटनाएँ बढ़ जाएंगी।

भारत में कन्या भ्रूण हत्या की प्रथा उन क्षेत्रों में उभरी है जहां शिक्षा, खासकर महिलाओं की शिक्षा काफी उच्च दर पर हैं और लोगों का आर्थिक स्तर भी अच्छा है। महिला उत्थान के लिए काम करने वाली गैर सरकारी संगठन 'जागोरी' की अध्यक्ष कल्याणी मेनन सेन का कहना है, स्त्री जिस शिक्षा के लिए महिला आंदोलन चलाए

गए, वही शिक्षा आज जहां पहुंची है वहां महिलाओं की संख्या घट रही है। महिला शिक्षा अपने आप में महिला उत्थान का कारण नहीं बन सकती बल्कि यह शिक्षा के उत्तम स्तर पर निर्भर करता है। सामाजिक कार्यकर्ताओं में भी इस पर सहमति है। बल्कि अब तक होने वाले सर्वेक्षण भी इसका समर्थन करते हैं कि महिलाओं के खिलाफ नकारात्मक रुझान को खत्म करने के लिए उन्हें आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनाना जरूरी है। कल्याण मेनन कहती हैं कि आंध्र प्रदेश, राजस्थान और मध्य प्रदेश जैसे कुछ राज्यों में सरकार ने दो से अधिक बच्चे रखने वाले माता-पिता को कुछ अधिकारों से वंचित करने की नीति अपनाई है। मिसाल के तौर पर तीन बच्चों की मां को सरकारी नौकरी नहीं मिल सकती, यदि वह सरकारी कर्मचारी है तो उसे प्रसव के लिए अवकाश नहीं दिया जाता। तीसरे बच्चे को मुफ्त शिक्षा और स्वास्थ्य सुविधाएं प्रदान नहीं की जातीं। कल्याणी मेनन कहती हैं कि बेशक इन नीति से तीसरे बच्चे के मानवाधिकारों का हनन होता है, साथ ही उसके माता-पिता किसी भी तरीके से इस तीसरा बच्चा पैदा करने से बचते हैं। और यदि दो बच्चों में से कम से कम एक लड़का हो तो दूसरी बार लड़की के गर्भधारण पर अवश्य ही गर्भपात कराएंगे। इस स्थिति से निबटना आवश्यक है।

यह मामला बालिकाओं से महिलाओं तक भी जाता है। समाज में जब भी औरतों के लिए समानता या स्वतंत्रता की बात होती है, भारतीय समाज की मानसिकता, सहयोग की जगह पूजा वाली होती है। लेकिन अमेरिका में यौन-हिंसा के मामले इसलिए ज्यादा होते हैं क्योंकि वहां यौन-हिंसा की परिभाषा बहुत व्यापक है। वहां की औरतें विरोध करती हैं, वहां की पुलिस एफआईआर दर्ज करवाने में आनाकानी नहीं करती और न्यायालय निर्णय देने में देर नहीं लगाते। इस सबसे बढ़कर वहां का समाज यौन-हिंसा के लिए औरतों को जिम्मेदार नहीं मानना। इसलिए औरतें भी अपने विरुद्ध अपराध को छिपाती नहीं हैं। और फिर औरतों ने कब कहा कि उन्हें पश्चिम की तरह आजादी चाहिए। आजादी तो हमारे संविधान ने हमें दी हुई है।

आजादी तो हमारे संविधान ने हमें दी हुई है। किसी को उसे हमें देने की जरूरत नहीं है। बस एक सुरक्षित माहौल चाहिए, जिसमें उस स्वतंत्रता का उपयोग कर सकें और वो माहौल न अकेले पुलिस बना सकती है, न न्यायालय न सरकार और न समाज... सबको मिलकर बेहतर समाज बनाना होगा। कहा जा सकता है कि एक आदर्श समाज कैसे बन सकता है। अपराध तो तब भी होंगे। ये तो हम भी जानते हैं कि अपराधमुक्त समाज की कल्पना 'यूटोपिया' से बढ़कर कुछ नहीं है। अपराधी हर युग में रहे हैं और आगे भी रहेंगे। पर कुछ ऐसी बातें हैं, जिन पर ध्यान दिया जाय तो न सिर्फ अपराध कम होंगे, बल्कि अपराध होने पर औरतें उसकी शिकायत दर्ज कराने से डरेंगी भी नहीं।

किसी को उसे हमें देने की जरूरत नहीं है। बस एक सुरक्षित माहौल चाहिए, जिसमें उस स्वतंत्रता का उपयोग कर सकें और वो माहौल न अकेले पुलिस बना सकती है, न न्यायालय न सरकार और न समाज...सबको मिलकर बेहतर समाज बनाना होगा। कहा जा सकता है कि एक आदर्श समाज कैसे बन सकता है। अपराध तो तब भी होंगे। ये तो हम भी जानते हैं कि अपराधमुक्त समाज की कल्पना 'यूटोपिया' से बढ़कर कुछ नहीं है। अपराधी हर युग में रहे हैं और



अपराधियों को समाज का भी भय होना चाहिए। हमारे समाज में यौन-हिंसा की शिकार औरतों को ही जिम्मेदार मानने की जो प्रवृत्ति है, इसके कारण भी जहां एक ओर अपराधियों का हौसला बढ़ता है, वहीं दूसरी ओर औरतें डर जाती हैं। सबको ये बात दिमाग से निकाल देनी चाहिए कि अपने विरुद्ध अपराध के लिए महिला दोषी है। अपराध कहीं भी किसी के साथ भी हो सकता है। बुर्के से लेकर जींस पहनने वाली लड़कियों तक और बच्चियों से लेकर बूढ़ी औरत तक, कहीं भी कोई भी महिला अपराध का शिकार हो सकती है। औरतों को अपराध का जिम्मेदार मानने वाली सोच को बदलना ही होगा।

आगे भी रहेंगे। पर कुछ ऐसी बातें हैं, जिन पर ध्यान दिया जाय तो न सिर्फ अपराध कम होंगे, बल्कि अपराध होने पर औरतें उसकी शिकायत दर्ज कराने से डरेंगी भी नहीं।

पहली बात तो ये है कि अपराधियों के अन्दर कानून-व्यवस्था का डर होना चाहिए और ये तभी होगा, जब पुलिस अपना काम ठीक से करेगी। यहां तो ये हाल हैं कि छेड़छाड़ की रिपोर्ट करवाने जाने पर पुलिस ही समझाने लगती है कि जाने दो कौन सी इतनी बड़ी बात है। कहीं-कहीं तो इससे भी बढ़कर पुलिस खुद औरतों पर ही दोषारोपण करने लगती है कि आप इतनी रात में बाहर क्यों निकली? एकाध बार बड़े अधिकारियों को भी ये कहते सुना गया है कि पुलिस सारी औरतों की रक्षा तो नहीं कर सकती। जब पुलिस के आला अफसर ऐसे बयान देंगे तो अपराधियों को पुलिस का डर रह जाएगा? इन्हीं सब

कारणों से यौन-हिंसा की शिकार औरतें रपट लिखाने ही नहीं जातीं। मुझे लगता है कि हमारी पुलिस फोर्स को और अधिक जेंडर सेंसिटिव बनाना चाहिए। ये ट्रेनिंग के स्तर पर तो ही, समय-समय पर वर्कशॉप और सेमीनार के माध्यम से भी किया जा सकता है।

दूसरी बात, अपराधियों को समाज का भी भय होना चाहिए। हमारे समाज में यौन-हिंसा की शिकार औरतों को ही जिम्मेदार मानने की जो प्रवृत्ति है, इसके कारण भी जहां एक ओर अपराधियों का हौसला बढ़ता है, वहीं दूसरी ओर औरतें डर जाती हैं। सबको ये बात दिमाग से निकाल देनी चाहिए कि अपने विरुद्ध अपराध के लिए महिला दोषी है। अपराध कहीं भी किसी के साथ भी हो सकता है। बुर्के से लेकर जींस पहनने वाली लड़कियों तक और बच्चियों से लेकर बूढ़ी औरत तक, कहीं भी कोई भी महिला अपराध का शिकार हो सकती है। औरतों को अपराध का जिम्मेदार मानने वाली सोच को बदलना ही होगा।

तीसरी बात औरतों के विरुद्ध होने वाले छोटे-मोटे अपराधों को अनदेखा नहीं किया जाना चाहिए। जब हम छींटाकशी, ताने मारना, भीड़ का फायदा उठाकर धक्के मारना - जैसे अपराधों पर ध्यान नहीं देते हैं, तो ऐसा करने वालों का हौसला बढ़ता है। कई केसेज में देखा गया है कि बलात्कारी कई दिनों से लड़की का पीछा करता रहा है, लेकिन या तो लड़की ने ध्यान नहीं दिया या घरवालों से कहने पर उन्होंने उससे ध्यान न देने को कहा। दरअसल हम इसे अपराध नहीं समझते और पुलिस में शिकायत नहीं करते, जबकि इस तरह की लापरवाही नहीं होना चाहिए। हमें अपनी लड़कियों को भी ये सिखाना चाहिए कि वो ऐसे असामाजिक तत्वों को अनदेखा न करें। हम, हमारा समाज और प्रशासन इस बात को जानता है कि आज की बालिकाएं कल की एक पीढ़ी हैं। आज की बालिका कल की महिला है। महिलाओं को परिवेश देना सबकी जिम्मेदारी बनती है।

(साभार : पीपुल्स समाचार)



निरक्षरता का क्या करें

● संपादकीय

देश की निरक्षरता को यदि सरकारों की कुछ बड़ी असफलताओं में से एक माना जाए तो अतिशयोक्ति नहीं है। मानव संसाधन की ऐसी उपेक्षा और बर्बादी शायद ही किसी विकासशील देश में मिले। विकास के लिए जो नेता और सरकारों मानव संसाधन की बात करती हैं, वे इस यथार्थ को कैसे भुला देती हैं कि आजादी के बाद से अब तक एक पूरी पीढ़ी अपनी परिपक्वता हासिल कर चुकी है, और वह अनपढ़ है। दूसरी तरफ समाज का हर जिम्मेदार नागरिक भी इस बात का जिम्मेदार है कि उसके देश भारत में सबसे अधिक लोग निरक्षर हैं। सरकार सालों से भारत में साक्षरता अभियान चला रही है और उस पर होने वाले खर्च की चर्चा होती रही है। दो तीन वाक्यों के ज्ञान वाले व्यक्ति को विकास में भागीदारी करने वाला कुशल मानव संसाधन तो नहीं माना जा सकता। संयुक्त राष्ट्र की ताजा रिपोर्ट बताती है कि दुनिया में सबसे ज्यादा निरक्षर वयस्क भारत में हैं। 'एजुकेशन फॉर ऑल ग्लोबल मॉनिटरिंग रिपोर्ट' में बताया गया है कि 1991 से 2006 के बीच भारत में साक्षरता दर 48 फीसदी से बढ़कर 63 हो गयी है। लेकिन जनसंख्या वृद्धि के कारण यह बदलाव दिखाई ही नहीं दिया और कुल निरक्षर वयस्कों की संख्या में भी कोई बदलाव नहीं हुआ। गरीब और अमीर भारत का यह फासला शिक्षा और आर्थिक असमानता में स्पष्ट रूप से देखा जाने लगा है। देश में अमीर और गरीब में बहुत ज्यादा फासला है बल्कि यह तेजी से बढ़ रहा है। इसका असर शिक्षा पर भी देखने को मिल रहा है। एक तरफ उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुकी महिलाएं हैं, जिन्होंने

अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी जगह बनाई है तो दूसरी ओर देश में ऐसे लाखों बच्चे हैं जिन्हें प्राथमिक शिक्षा का मूल अधिकार भी नहीं मिल पा रहा है।

एक साल पहले जारी एक रिपोर्ट में भी भारत को निरक्षरता के कारण हर साल 53 अरब डॉलर (करीब 27 खरब रुपए) के नुकसान उठाने की बात कही गई थी। का नुकसान उठाना पड़ रहा है। विश्व साक्षरता संगठन की रिपोर्ट 'निरक्षरता की आर्थिक और सामाजिक लागत' में यह अनुमान लगाया गया है। इसमें कहा गया है कि निरक्षरता से भारत को अनुमानत सालाना 53.56 अरब डॉलर का नुकसान हो रहा है। इस मामले में चीन को भी शामिल किया गया है लेकिन किसी भी देश से हमारी तुलना नहीं हो सकती। कहने को तो रूस 28.48 अरब डॉलर के नुकसान के साथ तीसरे और ब्राजील 27.41 अरब डॉलर के साथ चौथे स्थान पर है। 2011 की जनगणना के शुरुआती आंकड़ों के अनुसार, भारत में सात साल से अधिक आयु वर्ग में साक्षर लोगों की संख्या 74 प्रतिशत है। इसका आर्थिक मामलों से सीधा रिश्ता है। रिपोर्ट में कहा गया है कि निरक्षर लोगों की आमदनी साक्षर-पढ़े-लिखे लोगों से 30 से 42 प्रतिशत तक कम होती है। अशिक्षा को रोग के तौर पर देखना चाहिए और इसे जड़ से खत्म करने की जरूरत है। आज भारत को आर्थिक संसाधनों के साथ अपने मानव संसाधन को भी विकास की आवश्यकताओं के अनुसार तैयार करना होगा। अनपढ़ और अकुशल भीड़ पर गर्व करने की प्रवृत्ति सरकारों और जिम्मेदारों को त्यागना होगी।

(साभार : पीपुल्स समाचार)



असमानता बढ़ाती शिक्षा

● जगमोहन सिंह राजपूत

शिक्षा की वर्ण व्यवस्था - शिक्षा में यह वर्ण व्यवस्था चल नहीं पाएगी कि धनाढ्य लोगों के बच्चे अच्छे स्कूलों में पढ़ें और बाकी की तरफ से सरकार आँखें बंद कर ले।

सा | मान्य रूप से वर्तमान शिक्षा व्यवस्था देश के करोड़ों बच्चों को खुद से अलग कर देती है, जबकि अपेक्षा यह है कि देश का प्रत्येक बालक व बालिका प्रारंभ से ही इस शिक्षा व्यवस्था में बराबर का भागीदार बने और सभी को व्यावहारिक समानता के अवसर मिले। संभवतः भारत के सत्तासीनों को उस परिवर्तन की कोई संभावना नजर नहीं आती जिसमें प्रत्येक बच्चे को स्थानीय परिवेश में अच्छी गुणवत्ता वाली प्रारंभिक शिक्षा तथा कौशल मिल सके। फिलहाल सरकारों ने संसाधनों की कमी को बहाना बनाकर देश के अधिकांश बच्चों को उनके भाग्य भरोसे छोड़ दिया है। समय-समय पर राजनीतिक लाभ लेने के लिए सरकारें अनेक प्रकार के नए प्रावधानों तथा योजनाओं की चर्चा करती रहती हैं। इस समय अनेक शिक्षा अभियान चर्चा में हैं और पिछले चार वर्षों से केन्द्र सरकार शिक्षा के अधिकार अधिनियम को लागू करने की वाहवाही लूटने का प्रयास कर रही है। पिछले छह दशकों में सरकारें वह कार्य नहीं कर पाई हैं जिन्हें पूरा करने की अपेक्षा संविधान लागू होने के दस वर्षों के अंदर की गई थी यानी छह से चौदह वर्ष तक के हर बच्चे को अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा देना। आज भी सरकारी आंकड़े कहते हैं कि नामांकन 96 प्रतिशत पहुंच गया है।

वास्तविक धरातल पर देखें तो स्कूलों की अव्यवस्था, अध्यापकों की कमी, पीने का पानी व शौचालय तक का प्रबंध न होना और विभिन्न कारणों से बच्चों का असमय स्कूल छोड़ देना चिंता का विषय बन जाते हैं। यहां यह याद कर लेना प्रासंगिक है कि 1922 में महात्मा गांधी ने एक

पत्र में लिखा था कि आजादी मिलने के बाद भी हमारे देश के लोगों को खुशी नहीं मिलेगी, क्योंकि चुनाव की गड़बड़ियां, प्रशासन का बोझ, अन्याय और अमीरों का आतंक लोगों पर भारी पड़ेंगे। उन्होंने लिखा था कि आशा की एकमात्र किरण शिक्षा का प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचना होगा। इसी के आधार पर लोगों को उनके अधिकार, मान-सम्मान और अच्छा जीवन मिल सकेगा। इस समय अच्छी गुणवत्ता वाली शिक्षा लगभग 30 प्रतिशत बच्चों तक सीमित रह गई है। बेहतर शिक्षा अभी भी हर बच्चे तक पहुंच नहीं पाई है इस दिशा में जो प्रयास किए जा रहे हैं वे लोगों के विश्वास नहीं जगा पा रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों से स्वयंसेवी और अंतर्राष्ट्रीय संस्थाएं स्कूली छात्रों की उपलब्धियों का मूल्यांकन कर रही हैं। इनकी रिपोर्ट से पता चलता है कि भारत में अधिकांश बच्चों की शैक्षिक उपलब्धियां अपेक्षा से नीचे स्तर की होती हैं। 'प्रथम' नाम की स्वयंसेवी संस्था शिक्षा व्यवस्था पर सालाना रिपोर्ट जारी करती है। इसकी हालिया रिपोर्ट के अनुसार अभी भी केवल 62.6 प्रतिशत स्कूलों में शौचालय हैं, जबकि शिक्षा के अधिकार अधिनियम के तहत पहली अप्रैल 2013 तक हर स्कूल में शौचालय बन जाने चाहिए थे। करीब 40 प्रतिशत स्कूलों में लड़कियों के लिए अलग शौचालय नहीं हैं, जबकि लगभग हर सरकारी दस्तावेज लड़कियों की शिक्षा पर विशेष बल देने का श्रेय लेने का प्रयास करता रहता है। सरकार यह मानने को तैयार नहीं है कि सरकारी स्कूलों की साख लगातार गिरती जा रही है। परिणामस्वरूप प्राइवेट स्कूलों की संख्या तेजी से बढ़ रही है। करीब 30 प्रतिशत स्कूल इसी श्रेणी में आते



हैं। इनमें से अधिकांश नए स्कूल वे लोग खोल रहे हैं जिन्हें शिक्षा केवल निवेश के लिए अत्यंत लाभदायी क्षेत्र प्रतीत होता है और वे यहां आकर कम से कम समय में अधिक से अधिक मुनाफा कमा सकते हैं।

प्रथम की रिपोर्ट के अनुसार 2009 में कक्षा पाँच के 52.9 प्रतिशत छात्र कक्षा दो की पुस्तक पढ़ सकते थे। 2013 में घटकर यह केवल 47 प्रतिशत रह गया है। 2009 में कक्षा 3 के 36.5 प्रतिशत बच्चे ही गणित के घटाने के सवाल हर कर पाए थे। 2013 में यह आंकड़ा घटकर 18.9 रह गया है। प्राइवेट स्कूलों में 2010 में 47.8 प्रतिशत बच्चे घटाने का कौशल जानते थे, 2013 में यह घटकर 44.6 ही रह गया। सरकारी स्कूलों में अध्यापकों की कमी, कार्य संस्कृति की शिथिलता तथा अनुशासनहीनता और उत्तरदायित्व बोध का अभाव गुणवत्ता के क्षरण के मुख्य कारण हैं। एक अन्य कारण यह है कि शिक्षा व्यवस्था से जुड़े अधिकांश अधिकारियों के बच्चे प्राइवेट स्कूलों में ही पढ़ते हैं और वहां माता-पिता पूर्ण रूप से संतुष्ट रहते हैं। प्राइवेट स्कूल निश्चित रूप से कार्य संस्कृति पर निगरानी रखते हैं, अनुशासन बनाए रखते हैं तथा यह भी जानते हैं कि वे अन्य स्कूलों के साथ प्रतिस्पर्धा में हैं। जो यह भूल जाते हैं वे पीछे चले जाते हैं और अनेक बंद भी हो जाते हैं। ठीक वैसे ही जैसे सैकड़ों इंजीनियरिंग तथा मैनेजमेंट कॉलेज बंद हो रहे हैं।

प्रथम की रिपोर्ट से यह भी स्पष्ट हुआ है कि जिन राज्यों में अधिकांश बच्चे सरकारी स्कूलों में जाते हैं वहां पर माता-पिता पर ट्यूशन का बोझ बढ़ जाता है। यह वह वर्ग है जो साधनों की कमी के कारण अपने बच्चों को प्राइवेट स्कूलों में नहीं भेज पाता। निश्चित रूप से इसमें पिछड़ा वर्ग और अल्पसंख्यक वर्ग बड़ी संख्या में शामिल होता है। इन वर्गों के हितैषी कहलाने के आतुर राजनेता कैसे-कैसे खेल खेलते हैं, इसका एक उदाहरण दिल्ली में हुए पिछले विधानसभा चुनावों में नए रूप में सामने आया है। कई जगह सरकार ने बड़े-बड़े विज्ञापन लगाए थे कि

स्कूलों की अव्यवस्था, अध्यापकों की कमी, पीने का पानी व शौचालय तक का प्रबंध न होना और विभिन्न कारणों से बच्चों का असमय स्कूल छोड़ देना चिंता का विषय बन जाते हैं। यहां यह याद कर लेना प्रासंगिक है कि 1922 में महात्मा गांधी ने एक पत्र में लिखा था कि आजादी मिलने के बाद भी हमारे देश के लोगों को खुशी नहीं मिलेगी, क्योंकि चुनाव की गड़बड़ियां, प्रशासन का बोझ, अन्याय और अमीरों का आतंक लोगों पर भारी पड़ेंगे। उन्होंने लिखा था कि आशा की एकमात्र किरण शिक्षा का प्रत्येक व्यक्ति तक पहुंचना होगा।

2001 में बोर्ड परीक्षा का परिणाम 50 प्रतिशत था, जो 2013 में बढ़कर 99.4 हो गया। दिल्ली के सरकारी स्कूलों के अध्यापकों से चर्चा करने पर ज्ञात हुआ कि इस प्रकार के मौखिक निर्देश थे कि हर स्कूल का परीक्षा परिणाम शत-प्रतिशत ही होना चाहिए। इस प्रकार के दृष्टिकोण में असमानता ही बढ़ती है और छात्र-छात्राओं के एक बड़े वर्ग के भविष्य के साथ खिलवाड़ होता है। वैसे कपिल सिब्बल ने आठवीं क्लास से परीक्षा खत्म करके और दसवीं में बोर्ड परीक्षा को वैकल्पिक बनाकर कमजोर वर्ग के हितों पर बड़ा आघात किया था। उसके परिणाम अब लोगों की समझ में आने लगे हैं। वैसे भी अधिक दिनों तक शिक्षा में यह वर्ण व्यवस्था चल नहीं पाएगी कि धनाढ्य लोगों के बच्चे अच्छे स्कूलों में पढ़ें और बाकी की तरफ से सरकार आँखें बंद कर ले। संभवतः जनजागृति ही एक नई शैक्षिक व्यवस्था को जन्म देगी जो संविधान की भावनाओं के अनुकूल होगी।

(साभार : दैनिक जागरण)



खुद के बिकने का दर्द

● संपादकीय

मानव तस्करी सामाजिक-आर्थिक विषमता का एक कारण है। निरंतर प्रयासों के साथ-साथ इसके खात्मों के लिए समाज में न्यायसंगत जीवन स्तर को बढ़ावा दिया जाना भी एक जरूरी कदम है।

दु | निया में इस समय मानव तस्करी जैसा घृणित व्यापार सबसे तेजी से बढ़ता जा रहा है। मध्यप्रदेश में भी इस कारोबार के मामले में कुछ गिरफ्तारियां हुई हैं। मानव तस्करी ऐसा कारोबार है जिसमें बच्चे और महिलाओं की हालत सबसे दयनीय है। हमारे देश में महिलाओं की तस्करी की भयावह तस्वीर इसलिए भी उभरी है कि यहां कई तरह के सामाजिक बंधन लागू हैं। किसी समाज की कमजोरी का अंदाजा लगाना हो तो उसमें महिलाओं बच्चों की स्थितियों का अध्ययन सब कुछ बयां कर देता है। आज आंकड़ों में देखें तो मानव तस्करी अब गहन अपराध का रूप ले चुकी है। केंद्रीय जांच ब्यूरो (सीबीआई) के अनुसार 2009 में 90 फीसदी तस्करी देश में ही हुई और इनमें करीब 30 लाख यौनकर्मि हैं। यौनकर्मियों के अलावा मजदूरी, जबरन विवाह के मामले भी शामिल हैं। सरकारें कहती रही हैं कि इस तरह के अवैध काम करने वालों के खिलाफ तेजी से कार्रवाई नहीं की जा रही है।

लेकिन इसके बाद भी राज्य दर राज्य मानव तस्करी के दुष्चक्र का मायाजाल फैलता जा रहा है। आज भारत मानव तस्करी का प्रमुख अड्डा बनता जा रहा है। यहां एक तरफ जो महिलाओं के लिए योजनाओं की बाढ़-सी नजर आती है, मगर दूसरी ओर ऐसे हालात बना दिए गए हैं कि उन्हें देह व्यापार में लिप्त होना पड़ता है। उनका शारीरिक व्यापारिक इस्तेमाल सदियों से होता आ रहा है। वर्तमान समय में मानव तस्करी और महिलाओं के पलायन का

सीधा संबंध उनके शारीरिक शोषण से है। अपनी जड़ों से मजबूरन उखड़ना यानी पलायन सीधे-सीधे उनके शोषण से जुड़ा है। बच्चों महिलाओं सहित करीब 12 लाख लोग मानव तस्करी का शिकार प्रतिवर्ष होते हैं। देश में सबसे अधिक मानव तस्करी उड़ीसा, मध्यप्रदेश, झारखंड और छत्तीसगढ़ में की जाती है। बच्चों और महिलाओं की स्थिति खराब होने के कारण यह हो रहा है। यह हमारे समाज में व्याप्त महिलाओं और पुरुषों के बीच असमानता का सूचक है। महिला का शरीर आज के सभ्य कहे जाने वाले समाज में भी बिकाऊ और शोषण का हिस्सा है। इसमें संदेह नहीं कि देह व्यापार महिलाओं के लिए सबसे पुराना पेशा समझा जाता है। लेकिन आज के युग में आधुनिक सामाजिक ताने-बाने में इसे खत्म होना चाहिए था, लेकिन ऐसा नहीं हो पा रहा है। बंधुआ मजदूरी, यौन-शोषण, भीख मंगवाना, मानव अंगों की तस्करी और शादी के लिए खरीद-फरोख्त मानव तस्करी के विभिन्न रूप हैं। इन सभी रूपों में महिलाओं का शोषण सबसे अधिक होता है। आज इस बुराई को खत्म करने के लिए निरंतर प्रयासों के साथ आर्थिक सामाजिक स्थितियां, न्यायसंगत जीवन स्तर को शामिल किया जाना चाहिए। इस अपराध और बुराई के दुष्चक्र को बिना सामाजिक आर्थिक न्याय को हासिल किए खत्म नहीं किया जा सकता। इस दिशा में सभी स्तरों पर गंभीर काम होना चाहिए।

(साभार : पीपुल्स समाचार)



क्या गांवों के खत्म होने की प्रक्रिया शुरू हो गई

• रिचर्ड महापात्र

फसल उत्पादन चक्र में परिवर्तन कर किसानों का एक वर्ग लाभान्वित भी हुआ है। लेकिन किसानों की एक ऐसी पीढ़ी तैयार हो गई है, पारंपरिक फसलों से नाता तोड़ लिया है और वे उत्पादक न होकर उसके खरीददार बन गए हैं।

भा रत की जनगणना 2011 के अनुसार देश के 640 जिलों में से अब मात्र 100 जिले ऐसे बचे हैं, जिनमें ग्रामीण जनसंख्या अधिक है। शहरीकरण जहां खेती की जमीनों को लील रहा है। वहीं दूसरी ओर बढ़ती जनसंख्या से खाद्य पदार्थों की मांग भी बढ़ती जा रही है। साथ ही शहरी उपभोक्ताओं की खाद्य आवश्यकताओं की प्राथमिकता भी अलग है। अफसोस इस बात का है कि हमारे राजनीतिक विमर्श में इस बिंदु की अनदेखी की जा रही है। भारत में ग्रामीण शहरी विभाजन पर चर्चा आम बात है और बहुत जोर शोर से यह तर्क दिया जा रहा है कि ग्रामीण मतदाताओं की आकांक्षाएं भी शहरी मतदाताओं जैसी ही हैं। इससे ग्रामीण बनाम शहरी बहस ही पटरी से उतर गई है। राजनीतिक बहस इशारा कर रही है कि आर्थिक वृद्धि की अंतिम राजनीतिक पहल होगी। सन् 2011 की जनगणना से सामने आया है कि जिस तेजी से भारत में शहरीकरण हो रहा है वह देश के इतिहास में सबसे तीव्र है। व्यापक ग्रामीण क्षेत्र शहरी क्षेत्रों में बदल गया, जिसके परिणाम स्वरूप यह निश्चित तौर पर माना जा सकता है कि ग्रामीण आकांक्षाओं की दिशा बदली है और वे शहरी मध्य वर्ग जैसी प्रतीत होने लगी है। भारत की जनगणना के अनुसार भारत में किसानों के बनिस्वत खेतिहर मजदूरों की संख्या अधिक है। यह सब कुछ इस तय के

बावजूद है कि परिचालन या खेती योग्य भूमि में तो वृद्धि हुई है लेकिन इसी के समानांतर उत्पादन के नकारात्मक वृद्धि दर्ज की गई है। इसी तरह की प्रवृत्ति आर्थिक रूप से कमजोर अनुसूचित जाति एवं जनजाति समूहों में भी देखी गई है। तो ऐसे में राजनीतिज्ञ ऐतिहासिक ग्रामीण-शहरी विभाजन के नाम पर मत क्यों मांग रहे हैं। इसके बजाय देखें तो सरकारी दस्तावेजों के मद्देनजर राजनीतिज्ञों को बिना किसी झिझक के दोनों समूहों के बीच की खाई को पाटने के लिए शहरीकरण को प्रोत्साहित करना चाहिए। यही वह बिंदु है जहां से अब गलती साफ नजर आने लगती है। इस बात में कोई शक नहीं है कि भारत परिवर्तन काल में है, लेकिन इसके बावजूद इसका शहरीकरण का सफर पूरा होने में अभी काफी वक्त लगेगा। इस संधिकाल को लेकर काफी सारे सवाल सामने आ रहे हैं। लेकिन इसका एक मूलभूत और शहरी एवं ग्रामीण दोनों के लिए समान विध्वंसक परिणाम यह है कि तेजी से हो रहा शहरीकरण किस प्रकार भारत के खाद्य उत्पादन को प्रभावित करेगा। इस प्रक्रिया से खाद्य उत्पादन के लिए प्रयोग में आने वाली भूमि बड़ी मात्रा में शहरी इस्तेमाल की भेंट चढ़ जाएगी। ठीक इसी समय शहरीकरण की वजह से खाद्य पदार्थों खासकर दूध एवं सब्जी जैसे अधिक कीमत वाले पदार्थों की मांग में काफी वृद्धि दर्ज की है। विवाद एकदम सामान्य



है, हमें खाद्यान्न उत्पादन हेतु आनुपातिक मात्रा में भूमि चाहिए। यह परिवर्तन किस प्रकार किसानों को प्रभावित करेगा या दूसरे शब्दों में कहें तो ऐसे ग्रामीण क्षेत्र जो एक समय मुख्यतया बड़ी मात्रा में कृषि उत्पादन करते थे उन्हें प्रभावित करेगा? क्या इस परिवर्तन के कोई सकारात्मक प्रभाव भी हैं? यह सब कुछ किसी क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति पर निर्भर करता है। सबसे पहले देखते हैं कि किस प्रकार शहरीकरण, ग्रामीण क्षेत्र जो कि खाद्य उत्पादन का मुख्य क्षेत्र है को प्रभावित करता है। भारत में अधिक ग्रामीण जनसंख्या वाले 50 शीर्ष जिले अधिकांशतः-भारत के पूर्वी हिस्सों एवं आंशिक तौर पर उत्तरप्रदेश और बिहार में स्थित हैं। इनमें से दो तिहाई में अति शहरीकरण हो रहा है।

इन जिलों में पारंपरिक तौर पर स्थानीय फसलें जैसे मोटे अनाज का भोजन में उपयोग होता रहा है, लेकिन शहरी आबादी बढ़ने से इनकी खान-पान की आदतों में भी

परिवर्तन आया। अब यहां सब्जियों, दूध एवं पोल्ट्री उत्पादों की मांग बढ़ गई है। फसल उत्पादन चक्र में परिवर्तन कर किसानों का एक वर्ग लाभान्वित भी हुआ है। वहां किसानों की एक ऐसी पीढ़ी तैयार हो गई है जिसने पारंपरिक फसलों से नाता तोड़ लिया है और अब वे खाद्यान्नों के उत्पादक न होकर उसके खरीददार बन गए हैं। ध्यान देने योग्य बात है बहुत तेजी से शहरीकरण की गिरफ्त में आते ये अधिकांश ग्रामीण जिले अत्यंत कुपोषित भी हैं। तेजी से शहरीकृत होते ये अधिकांश जिले भारत के वर्षा पोषित क्षेत्रों में हैं। वर्तमान राजनीतिक विमर्श में इस खतरे की गूंज बहुत कम सुनाई दे रही है। यह अत्यंत विरोधाभासी है कि देश में केवल 100 जिले ऐसे बचे हैं, जिनमें शहरी के बजाए ग्रामीण जनसंख्या अधिक है। ये अब कृषि आधारित अर्थव्यवस्था के जीवित फाजिल्स की तरह हैं।

(साभार : पीपुल्स समाचार)

- “Do not follow where the path may lead. Go instead where there is no path and leave a trail.”

-Harold R. McAlindon



विकास और पर्यावरण का अंतर्संबंध

● भारत डोगरा

वायु प्रदूषण हो या जल प्रदूषण, मिट्टी का उपजाऊपन नष्ट होने का संकट हो या वनों के कटान का, इन सभी तरह के पर्यावरणीय विनाश को रोकना जरूरी है। नए तरह के प्रदूषण जैसे जेनेटिक प्रदूषण, परमाणु बिजलीघरों व मोबाइल फोन टावर के खतरों पर समुचित ध्यान देना जरूरी है। इसके लिए जहां एक ओर कानूनी व्यवस्था को मजबूत करना जरूरी है, वहीं जन-सहयोग प्राप्त करना भी जरूरी है।

कुछ वर्षों से बाहरी तौर पर तो पर्यावरण की रक्षा पर बहुत जोर दिया जा रहा है, पर क्या समग्र तौर पर विकास की राह ऐसी बन पाई है जिसमें पर्यावरण की रक्षा निश्चित हो सके? यह स्थिति न तो देश के स्तर पर नजर आती है, न दुनिया के स्तर पर। यदि विश्व स्तर पर केवल यह सवाल पूछा जाए कि क्या जलवायु बदलाव का संकट उचित समय पर नियंत्रित कर लेने की हमारी तैयारी अभी हो सकी है, तो इसका उत्तर निश्चित तौर पर नकारात्मक ही होगा। यदि अपने देश में कई तरह के पर्यावरण रक्षा कार्यक्रमों में आई तेजी के बावजूद कोई यह पूछे कि वन-रक्षा, जल-संरक्षण, मिट्टी के उपजाऊपन की रक्षा जैसे महत्वपूर्ण कार्य जरूरतों के अनुकूल चज रहे हैं, तो इसका उत्तर भी नकारात्मक ही होगा।

यह सच है कि मौजूदा पीढ़ी में जितनी पर्यावरण रक्षा की बात हुई है उतनी शायद पहले कभी नहीं हुई। लेकिन यह भी सच है कि पर्यावरण का संकट पहले से अधिक विकट हो रहा है। चाहे जलवायु बदलाव के संदर्भ में देखें या जल संकट अथवा वन-विनाश के संदर्भ में, सभी महत्वपूर्ण संदर्भों में यह स्थिति नजर आती है। इस विफलता की मुख्य वजह यह है कि पर्यावरण रक्षा के जरूरी एजेंडे का समावेश विकास में नहीं हो सका है। विकास की दिशा

व गति पर्यावरण रक्षा की जरूरतों को देखकर तय नहीं होती है, अपितु मूल रूप से शक्तिशाली तत्वों के मुनाफे के आधार पर तय होती है जिसमें कुछ लोक-लुभावन बातों को भी जोड़ दिया जाता है। उसके बाद थोड़ा-बहुत स्थान पर्यावरण रक्षा के कार्यक्रमों को दे दिया जाता है। अब तक के अनुभव ने बता दिया है कि इस तरह पर्यावरण की गंभीर व जटिल समस्याओं का समाधान नहीं हो सकेगा। जरूरत तो इस बात की है कि पर्यावरण रक्षा के लिए जो कार्य सबसे जरूरी हैं उनकी व्यापक पहचान बने और फिर विकास की समग्र योजना इस आधार पर ही बनाई जाए। उदाहरण के लिए यदि विश्व स्तर पर देखें तो तमाम विशेषज्ञ बता चुके हैं कि स्थिति को नियंत्रण से बाहर जाने से रोकने के लिए जरूरी है कि एक विशेष समय तक ग्रीनहाउस गैसों के उत्सर्जन में कमी की जाए। यह कार्य कठिन है, फिर भी संभव है। इसे एक राह से नहीं कई तौर-तरीके अपनाकर प्राप्त किया जाता है। एक बड़ा सवाल यह है कि कौन से तौर-तरीके अधिक न्यायसंगत हैं और अन्य महत्वपूर्ण उद्देश्यों जैसी गरीबी दूर करने के अनुकूल हैं।

एक राह यह है कि विलासिता की वस्तुओं में कटौती की जाए तथा विश्व स्तर में निशस्त्रीकरण को बहुत व्यापक



स्तर पर लागू किया जाए। यदि सभी देश मिलकर अमन-शांति की राह निकालें तो सभी हथियारों के उत्पादन में 90 प्रतिशत से भी अधिक कमी लाई जा सकती है। इस तरह अमन-शांति भी मजबूत होगी व पर्यावरण की रक्षा भी होगी। इस तरह विलासिता की वस्तुओं और सभी तरह के हानिकारक उत्पादों, जैसे शराब, सिगरेट, तंबाकू आदि सेहत के लिए खतरनाक उत्पादों में भी बड़ी कमी कर ली जाए तो इससे स्वास्थ्य की रक्षा व पर्यावरण की रक्षा का उद्देश्य साथ-साथ प्राप्त किया जा सकता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि पर्यावरण की रक्षा का सार्थक विकास की राह से कोई टकराव नहीं है, अपितु विकास की राह में जो बुराइयां व विसंगतियां आ गई हैं, उन्हें दूर करते हुए सबकी जरूरतों को पूरा करने का लक्ष्य बेहतर ढंग से प्राप्त किया जा सकता है। यह कहना सरासर अनुचित है कि पर्यावरण के सरोकारों से विकास में बाधा पहुंचती है।

सही स्थिति तो यह है कि पर्यावरण की रक्षा से ही टिकाऊ व समुचित विकास की राह निकलती है। वायु प्रदूषण हो या जल प्रदूषण, मिट्टी का उपजाऊपन नष्ट होने का संकट हो या वनों के कटान का, इन सभी तरह के पर्यावरणीय विनाश को रोकना जरूरी है। नए तरह के प्रदूषण जैसे जेनेटिक प्रदूषण, परमाणु बिजलीघरों व मोबाइल फोन टावर के खतरों पर समुचित ध्यान देना जरूरी है। इसके लिए जहां एक ओर कानूनी व्यवस्था को मजबूत करना जरूरी है, वहीं जन-सहयोग प्राप्त करना भी जरूरी है। बहुत महत्वपूर्ण है कि पर्यावरण रक्षा की राह ऐसी नहीं होनी चाहिए जो जनसाधारण को आहत करे। लोगों के सहयोग से, उनकी आजीविका की रक्षा से जुड़ते पर्यावरण की रक्षा को आगे बढ़ना चाहिए।

वैसे तो पर्यावरण की रक्षा का कार्य सदा अति महत्वपूर्ण रहा है पर जलवायु बदलाव के मौजूदा दौर में इसका महत्व और बढ़ गया है। अब तो यह एक तरह से जीवन के अस्तित्व की रक्षा का सवाल बन गया है। जलवायु बदलाव के संकट को कम करने के लिए ग्रीन हाउस गैसों के उत्सर्जन को कम करना जरूरी है। साथ में

उग्र होते जलवायु बदलाव के संकट से बचाव के उपायों को उचित समय पर अपनाने को उच्चतम प्राथमिकता देनी चाहिए। 21वीं शताब्दी का सबसे बड़ा सवाल यही है कि क्या समय रहते इस तेजी से बिगड़ती स्थिति को संभाला जा सकता है व धरती पर जीवन की रक्षा के लिए जरूरी कदम उठाए जा सकते हैं? यह सवाल हमारी भलाई के लिए बहुत जरूरी है। पर यह हमारे बच्चों, भावी पीढ़ी की भलाई के लिए तो और भी जरूरी है। इसलिए सबसे बुनियादी प्राथमिकताओं के प्रति हमें समय पर सचेत होना होगा। विश्व स्तर पर सहयोग स्थापित कर ऐसी योजनाएं बनानी होंगी जिससे पर्यावरण की रक्षा, बुनियादी जरूरतों की पूर्ति व विश्व-शांति को एक साथ जोड़ा जा सके। तभी हथियारों की होड़ को समाप्त करते हुए हम जलवायु बदलाव व पर्यावरण के अन्य संकटों का भी समाधान कर सकेंगे और सबकी बुनियादी जरूरतों को भी संतोषजनक ढंग से पूरा कर सकेंगे।

इन समस्याओं के समाधान में जनसाधारण का जुड़ना संभव है। सार्थक बदलाव का सबसे मूल आधार यही है कि जनसाधारण के अपने दुख-दर्द को बुनियादी व स्थाई तौर पर कम करने की जो सही राह है, वही राह हमें विश्व के गंभीर संकटों के समाधान की ओर ले जाती है। जरूरत है कि इस अंतर्संबंध को स्पष्ट रूप से आम लोगों के सामने इस तरह रखा जाए कि वे आसानी से समझें और विश्व की सबसे गंभीर समस्याओं के समाधान से जुड़ते चले जाएं। मनुष्य यदि चाहे तो अपनी बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के बाद अपना शेष सारा सामर्थ्य दूसरों की अभावग्रस्त मनुष्यों व अन्य सब जीवों की सेवा में लगा सकता है या प्रकृति के संरक्षण में लगा सकता है। पर लालच के कारण वह अधिक खाने-पीने, नशा करने, बड़े भवन बनाने, हर तरह के भोग-विलास एक साथ करने का प्रयास करते हैं तो इससे उस क्षेत्र के वनों, भूमि, हवा और पानी पर अधिक दबाव पड़ता है। इसी से पर्यावरण का विनाश होता है, जो आगे चलकर जलवायु बदलने जैसी गंभीर समस्याओं का रूप लेता है।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)



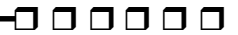
नदियों के किनारे अवैध खनन के चलते हो रहे कटाव से देश भर में तमाम जगह पर लोगों को अपनी जमीन से विस्थापित होना पड़ रहा है.....

नदियों की दुर्दशा से प्रभावित जिंदगी

● भारत डोगरा



“विकास की आधुनिक अवधारणा का प्रभाव अब नदियों के प्रवाह पर भी पड़ने लगा है। इसके फलस्वरूप देश के विशेषकर उत्तर के राज्यों के कई विकासखंड में बड़े पैमाने पर हो रहे कटाव से नदी किनारे बसे समुदायों के खेत खलिहानों के साथ ही साथ उनके घर भी नष्ट हो रहे हैं। ऐसे में आवश्यकता इस बात की है कि गंभीर समस्या से तुरंत निपटा जाए। इसके लिए गंभीर प्रयास किए जाएं।”



हाल के वर्षों में हमारे देश में नदियों में प्रदूषण और खनन जैसी समस्याएं बहुत ही तेजी से बढ़ी हैं। इसका असर यह हुआ है कि अनेक नदियों का तो बहाव बहुत कम हुआ है और कुछ नदियां तो लगभग लुप्तप्राय ही हो गई हैं। यह जरूर है कि इन गंभीर समस्याओं का असरदार समाधान चाहे न हुआ हो, पर कम से कम यह समस्याएं निरंतर चर्चा में बनी रही हैं। उम्मीद है कि इस तरह ही निरंतर चर्चा से ही सही पर समाधान की दिशा में कुछ प्रगति जरूर होगी।

हालांकि यह भी है कि इस विमर्श की एक बड़ी कमी यह रही है कि इसमें नदियों के आसपास रहने वाले लोगों की समस्याओं पर आज तक समुचित ध्यान नहीं दिया गया है। नदियों के आसपास रहने वाले किसानों, मछुआरों, मल्लाहों आदि की समस्याएं दिनों दिन बढ़ रही हैं। जिन स्थानों पर बड़े और मध्यम बांधों द्वारा नदियों का पानी बड़े पैमाने पर मोड़ा गया है, उन्हीं स्थानों पर नीचे किसानों, मछुआरों, नाविकों सभी की आजीविका उजड़ रही है। जिन स्थानों पर नदियां में खनन कार्य भी बड़े पैमाने पर

हुआ है, जिससे वहां रहने वाले गांववासियों के खेतों, चरागाहों, जल-स्रोतों आदि पर प्रतिकूल असर पड़ा है।

इनसे भी कहीं अधिक समस्याएं अनेक नदियों के कटान से पीड़ित लोगों की हैं। इस वजह से इनकी महज आजीविका ही नष्ट नहीं हो रही है, अपितु उनके आवास भी उजड़ रहे हैं, और उनका जीवन खतरे में पड़ गया है। इसका एक ज्वलंत उदाहरण उत्तरप्रदेश के गाजीपुर जिले में देखा जा सकता है। यहां गंगा नदी के कटान से उजड़े हुए गांववासी बड़ी संख्या में सर्द रातों में खुले में रहने को मजबूर हैं। एक ओर पूर्व में हुए कटान से विस्थापित हुए परिवार अभी अपना आशियाना नहीं बना सके थे, वहीं इस वर्ष नए सिरे से बहुत से परिवार यहां कटान से विस्थापित हो गए हैं। अनेक परिवारों को बांधों के ऊपर और सड़कों पर बिल्कुल बंजारों जैसा जीवन बिताना पड़ रहा है। जो राहत शिविर खुले भी हैं उनमें अनेक लोग बीमार पड़ रहे हैं। राहत शिविर के बाहर सड़कों या बांधों पर रह रहे लोग राहत सामग्री से वंचित हैं, वही दूसरी ओर शिविरों में भी सहायता उचित मानकों के आधार पर न



मिलने से लोग परेशान हैं। दुखद बात यह है कि बार-बार दिए गए आश्वासनों को पूरा नहीं किया गया है।

उत्तरप्रदेश बहराइच जिला भी नदी कटान से बुरी तरह प्रभावित है। नदी के कटान से अनेक परिवार बेघर हो चुके हैं और तटबंध का शरण लिए हुए हैं। खेती की जमीनतो उजड़ ही गई है, इस पर घर भी नहीं बचा, तो उनके समक्ष तो सबसे बड़ा सवाल यही है कि जीवन कैसे बिताएं? बच्चे कहते हैं कि हमें यहां नहीं रहना, घर जाना है, तो मां की आंखों में आए आंसुओं की वजह भी स्पष्ट है कि जब घर बचा ही नहीं तो किस घर में जाएं।

फखरपुर ब्लाक के सिलचट्टा गांव के लोगों ने बात करने पर यह बताया कि उनका गांव नदी के कटान से बहुत बुरी तरह तबाह हुआ है। यहां पर लोगों के घर और कृषि भूमि कटान से नष्ट हो गई है। घाघरा नदी ने हाल में कुछ मार्ग बदल कर उनकी पहले वाली भूमि को छोड़ा है। यहां के लोगों को उम्मीद है कि वे इस पर पुनः खेती कर सकेंगे। अतः वे चाहते हैं कि इसकी पैमायश (नप्ती) कर दी जाए। वैसे भी वे अपनी जमीन के नजदीक बने रहना चाहते हैं।

फखरपुर ब्लाक की ही अटडर पंचायत के लोगों को भी उपजाऊ कृषि भूमि और आवास बाढ़ व कटाव में बुरी तरह नष्ट हो गए। लोगों ने बहुत अभाव की स्थिति में तटबंध पर शरण ले रखी। अपने दुख-दर्द, भूख, अभाव की स्थिति बताते हुए यहां महिलाओं की आंखों में आंसू आ गए। प्रश्न यह उठता है कि अब प्रशासन यदि उनसे तटबंध से भी हटने को कह देता है, तो वे बेचारे कहां जाएंगे।

यहीं का मुन्सारी गांव (ब्लाक महसी) भी पूरी तरह कटान की चपेट में आ गया है। इस तरह यह खुशहाल गांव तबाह हो गया और यहां के लोग जाकर अब महसी ब्लाक के कोढ़वा गांव में बसे हुए हैं। यहां के अधिकांश परिवार कटान के कारण तीन बार विस्थापित हो चुके हैं। अब वर्तमान रहवास कोढ़वा में भी कटान होने लगा है। इस सब के चलते लोग भीषण अभाव की स्थिति में रह रहे हैं और

उन पर कर्जा भी हो गया है। अतः इन लोगों ने एक प्रस्ताव यह रखा है कि उन्हें गैर आबाद हो चुके उनके पुराने मुन्सारी गांव में पुनः बसा दिया जाए। कटान से बुरी तरह प्रभावित मुरौवा गांव (ब्लाक महसी) के दो तिहाई परिवार अपनी मूल बस्ती को छोड़ चुके हैं। इनमें से अनेक परिवार तो अब करहना पंचायत और कुछ परिवार फलेपुरवा पंचायत में रह रहे हैं। यह सब गांव महसी ब्लाक में आते हैं। बात सिर्फ उत्तरप्रदेश की ही नहीं है, यह स्थिति देश में कई नदी क्षेत्रों की है। मध्यप्रदेश में भी नर्मदा, चंबल आदि नदियों के कारण कई जगह इस तरह की समस्याएं पनप रही हैं। बिहार, हिमाचल और उत्तराखंड में भी नदियों के इसी तरह के कटान मानव जिंदगी पर असर डाल रहे हैं। केदारनाथ की घटना भी इस तरह के नदी कटान से उपजी थी।

इसलिए जरूरत इस बात की है कि नदी-कटान से प्रभावित लोगों के बारे में एक ऐसी समग्र नीति बननी चाहिए जिससे तय हो सके कि उनकी राहत और पुर्नवास का कार्य किस आधार पर किया जाएगा। इतना ही नहीं जब तक प्रशासन द्वारा उनका ठीक से पुर्नवास नहीं होता है, तब तक उन्हें प्रतिकूल मौसम और साथ ही भूख से बचाने के समुचित प्रयास किए जाने चाहिए। प्रभावित लोगों से विमर्श कर नदी कटान की बढ़ती समस्या के संबंध में समझ बनानी चाहिए तथा इसी समझ के आधार पर रोकथाम के उपाय में सुधार लाना चाहिए। इसके साथ पहले से नदी कटान से प्रभावित लोगों को राहत पहुंचाने का कार्य उचित मानकों के आधार पर करना चाहिए।

नदी-कटान की समस्या के अतिरिक्त नदियों के आसपास रहने वाले अन्य लोगों की समस्याओं जैसे खनन व प्रदूषण के असर, मछलियों की संख्या में तेजी से कमी आई एवं पानी को ऊपरी क्षेत्र में अत्याधिक मात्रा में मोड़ देने से आई समस्याओं पर भी समुचित ध्यान देने की जरूरत है।

(साभार : पीपुल्स समाचार)



बदलना होगा कार्यस्थलों का वातावरण

● अंजलि सिन्हा

देश के कोने-कोने से यौन उत्पीड़न की खबरें लगातार आती रही हैं, उन सभी ने लोगों तथा मीडिया का ध्यान खींचा है। आगे इन मामलों की सुनवाई किस तरह आगे बढ़ती है इसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, मगर स्पष्ट है कि इनमें से कुछ घटनाओं ने समाज पर असर डाला है और महिलाएं प्रभावशाली लोगों के खिलाफ भी बात रखने का साहस बटोर रही हैं।

महिलाओं के लिए सुरक्षित कार्यस्थल का मुद्दा अब समाज के हर स्तर के लोगों के बीच एजेंडे पर आ गया है। कार्यस्थल कब तक प्रभावी ढंग से सुरक्षित हो पाएंगे यह तो भविष्य का मसला है, किंतु एजेंडे पर आ जाने का तात्पर्य यही है कि सरकार, कानून, समाज और सभी नियोक्ता इस मुद्दे पर अब अपनी अनभिज्ञता जाहिर नहीं कर सकेंगे। हाल में संपन्न राज्यों के विधानसभा चुनावों में सभी उम्मीदवारों को आश्वासन देना पड़ा कि महिलाओं के लिए सार्वजनिक स्थानों को, जिसका एक भाग कार्यस्थल भी है, वे सुरक्षित करेंगे। देश के कोने-कोने से यौन उत्पीड़न की खबरें लगातार आती रही हैं, उन सभी ने लोगों तथा मीडिया का ध्यान खींचा है। आगे इन मामलों की सुनवाई किस तरह आगे बढ़ती है इसकी भविष्यवाणी नहीं की जा सकती, मगर स्पष्ट है कि इनमें से कुछ घटनाओं ने समाज पर असर डाला है और महिलाएं प्रभावशाली लोगों के खिलाफ भी बात रखने का साहस बटोर रही हैं।

हालांकि यह जगजाहिर है कि सत्ता और रसूख ऐसी कार्रवाइयों पर भारी पड़ता है फिर भी उम्मीद यही की जानी चाहिए, कि ऐसे सभी लोगों की पोल खुलने की संभावना अधिक है, क्योंकि अब महिलाएं मुकाबला करने को तैयार होने लगी हैं। तेजपाल वाली घटना में अत्याचार की शिकार लड़की ने अपने पत्र में स्पष्ट लिखा है कि मेरा

शरीर सिर्फ मेरा है, किसी के खेलने का खिलौना नहीं है। मेरे साथ जो किया गया, वह कानूनी परिभाषा में बलात्कार है.....। याद कीजिए मुंबई की महिला पत्रकार को जो अपनी पेशेगत जिम्मेदारी निभाने के दौरान बंद पड़ी मिल के कंपाउंड में गई थी जहां उसे सामूहिक बलात्कार का शिकार होना पड़ा। जहां पितृसत्तात्मक विमर्श में ऐसी युवती जिंदा लाश बन जाती है, उसने अस्पताल के बेड से घोषणा की कि मैं जल्द से जल्द ठीक होकर काम पर लौटूंगी।

दरअसल, अब हालात बदल रहे हैं और पहले की तुलना में महिलाएं प्रतिरोध करने तथा लड़ने का साहस अधिक जुटा रही हैं। अब हमलों की धार दोषी की तरफ मुड़ रही है। प्रतिरोध के स्वर उजागर होते जाने पर ही यह भी पता चलता जा रहा है कि कैसे तमाम संस्थानों में पितृसत्तात्मक वर्चस्व तथा वातावरण बना है और कथित तौर पर जागरूक लोगों एवं संस्थानों में भी यौन हिंसा से बचाव के उपाय तो दूर बल्कि इस मुद्दे पर सरोकार भी नहीं दिखता है। तमाम संस्थानों में यौन हिंसा नियंत्रित रखने या समाप्त करने हेतु शिकायत निवारण कमेटियों का गठन भी नहीं किया गया है।

कुछ समय पहले एक डाक्यूमेंटरी फिल्म बनी थी 'शेम इज नॉट माइन' अर्थात शर्म मुझे क्यों हो। यह फिल्म गुजरात की एक महिला सरपंच की आपबीती पर आधारित



थी जिसे बलात्कार का शिकार बनाया गया था। साक्षात्कार देते वक्त महिला ने अपना असली नाम तथा चेहरा छिपाया नहीं था। हाल में पश्चिम बंगाल के कामदुनी ग्राम की छात्रा के साथ सामूहिक बलात्कार एवं हत्या की घटना को लेकर जब जनाक्रोश भड़का तब कोलकाता की सड़कों पर उतरे जुलूस में पार्क स्ट्रीट बलात्कार कांड से चर्चा में आई पीड़िता भी शामिल हुई थी। उसने इस रैली को संबोधित किया तथा बाद में मीडिया को साक्षात्कार भी दिया। उसने साफ कहा कि आईंदा वह अपने नाम से जानी जाए, न कि 'पार्क स्ट्रीट पीड़िता' के नाम से। उस महिला ने साफ कहा कि वह क्यों शर्मिंदा हो, शर्मिंदा तो उन्हें होना चाहिए जिन्होंने उसके साथ बलात्कार किया है।

स्त्री विरोधी सोच एवं मानसिकता रखने वालों को तथा अपने पद-प्रतिष्ठा एवं रसूख के नशे में मदहोश लोगों को समझना होगा कि महिलाएं अब बाहर निकल चुकी हैं और वे वापस सिर्फ घर की चारदीवारी के भीतर नहीं रहने वाली हैं। ऐसी में वे कभी हिंसा झेल कर या उसका प्रतिरोध करके या फिर चाहे जैसे हो अपने लिए जगह तो बनाएंगी। इसलिए अपराधी प्रवृत्ति के लोग या तो स्वयं को दुरुस्त करें या ठोकर खाकर और सजा भुगत कर नियंत्रण पाएं। इस बदलते परिदृश्य में भले किसी को चाहे जितना डर लगे महिलाओं को काम पर रखने में, लेकिन उन सभी को जवाब तो देना पड़ेगा कि आखिर कब तक भारतीय पुरुष साथ-साथ काम करना नहीं सीखेंगे।

यद्यपि इस बात का पक्षधर नहीं हुआ जा सकता है कि कोई मामला सामने आते ही बगैर छानबीन हुए, उसमें शामिल व्यक्ति को अभियुक्त मान लिया जाए, कई बार आपसी गलतफहमियों के चलते भी ऐसे मामले सामने आ सकते हैं। लेकिन इस बात का गहराई से अहसास जरूरी है कि यौन हिंसा के मुद्दों को लंबे समय तक दबाया गया यानी उसे मुद्दा बना तो उसे ठीक से हल नहीं किया गया। यौन हिंसा तथा बलात्कार के कई केस इसके उदाहरण हैं।

रोज ब रोज की घटनाओं पर लगाम लगाना मुश्किल प्रतीत होता है तो भला कैसे माना जाए कि हालात काबू में

हैं। यानी एक तरफ सीधा हमला तथा बलात्कार की घटनाओं हैं, तो दूसरी तरफ मौके का फायदा उठा कर अभद्र व्यवहार जैसी घटनाएं भी हैं। ऐसे वातावरण में बाहर का सार्वजनिक दायरा औरत के लिए सुरक्षित बनाए जाने का काम बाकी है। यदि मान लें कि इसमें सच्चाई भी हो कि कुछ प्रतिशत महिलाएं हालात का इस्तेमाल अपने पक्ष में करती हैं, तो भी उनसे बचने का तरीका यह नहीं हो सकता कि पुरुष किसी महिला सहकर्मी के साथ काम न करें, बल्कि ऐसा मौका नहीं आने देना तथा सभी विवादों को पारदर्शी ढंग से अपने सभी सहकर्मियों के बीच चर्चा करना और उनसे सार्वजनिक रूप से निपटना या इसी तरह के अन्य उपायों पर विचार करना चाहिए।

सभी कार्यस्थलों पर काम की उचित संस्कृति विकसित करनी होगी जिसमें अपनी-अपनी जिम्मेदारियों का निर्वाह प्रमुख बने। फिर यदि कोई शिकायतकर्ता अपना कोई और हित साधने के उद्देश्य से अपने सहकर्मी पर इल्जाम लगाती है और आंतरिक कमेटियां ठीक तरीके से काम करती हैं तो केस खारिज होगा। इसलिए हर दफ्तर तथा उसके मालिक और बॉस को इसके लिए मेकेनिज्म विकसित करने पर मेहनत करना चाहिए ताकि स्वस्थ वातावरण विकसित हो और शिकायतों की समग्र दृष्टिकोण से सुनवाई हो और उनका निपटारा हो। दरअसल, इसके अलावा कुछ दूसरा उपाय हो भी नहीं सकता है। दफ्तरों में ऐसी कार्यसंस्कृति विकसित करनी होगी जहां जिम्मेदारी के साथ जवाबदेही एक मूल्य के रूप में स्थापित हो। संकट यह है कि अभी ऐसा दौर है जिसमें औरतों के लिए बाहर निकालकर काम पर जाना अभी स्वभाविक नहीं बना है यानि सार्वजनिक दायरे में उनकी उपस्थिति अभी बराबरी की नहीं बनी है। वैसे भी परिवारों के अंदर की जिम्मेदारियां तथा तमाम तरह के दबाव महिलाओं को बाहर निकल कर काम करने में बाधक बने हुए हैं। ऐसे में अगर बाहर का वातावरण दुरुस्त नहीं किया गया तो उनकी गतिशीलता पर नियंत्रण बरकरार रहेगा तथा बंदिशें और मजबूत होंगी।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)



अनाजों में जहर, दूध विषैला

● सुभाष चंद्र कुशवाहा

संयुक्त राष्ट्र के खाद्य और कृषि संगठन ने भारतीय बाजारों में अत्यंत घातक कीटनाशकों की आसान उपलब्धता पर चिंता जताई और कहा है कि मोनो क्रोटोफोस जैसे घातक कीटनाशक, जल्द से जल्द बाजार से हटा लेना चाहिए। मोनो क्रोटोफोस जैसे कीटनाशकों के प्रयोग पर विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 2004 में भी रोक लगाने को कहा था। लेकिन सरकार ने उस सुझाव को यह कह कर मानने से इनकार कर दिया था कि यह एक सस्ता और प्रभावी कीटनाशक है। चूंकि ज्यादातर कीटनाशकों की आपूर्ति अमेरिका बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा होती है, इसलिए संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न संगठन महज खानापूरी के लिए ही चेतावनी देते हैं।

स्वा | स्थ से खिलवाड़ करने वाले जहरीले दुग्ध व्यवसायियों को आजीवन कारावास की सजा जहां स्वागत योग्य कदम है वहीं घातक कीटनाशकों व रसायनों के इस्तेमाल के प्रति हमारा लचर रुख, बड़ी चिंता का कारण है। संयुक्त राष्ट्र के खाद्य और कृषि संगठन ने भारतीय बाजारों में अत्यंत घातक कीटनाशकों की आसान उपलब्धता पर चिंता जताई और कहा है कि मोनो क्रोटोफोस जैसे घातक कीटनाशक, जल्द से जल्द बाजार से हटा लेना चाहिए। मोनो क्रोटोफोस जैसे कीटनाशकों के प्रयोग पर विश्व स्वास्थ्य संगठन ने 2004 में भी रोक लगाने को कहा था। लेकिन सरकार ने उस सुझाव को यह कह कर मानने से इनकार कर दिया था कि यह एक सस्ता और प्रभावी कीटनाशक है। चूंकि ज्यादातर कीटनाशकों की आपूर्ति अमेरिका बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा होती है, इसलिए संयुक्त राष्ट्र के विभिन्न संगठन महज खानापूरी के लिए ही

चेतावनी देते हैं। अगर हमारे देश में अंतर्राष्ट्रीय कीटनाशक आचरण नियमावली का पालन तरीके से होता है तो दूसरे गैर रासायनिक और कम नुकसानदेह कीटनाशकों के विकल्प को बढ़ावा दिया जाता।

देश में अब तक लगभग 190 प्रकार के रसायनों, कीटनाशकों या फंफूदीनाशकों का पंजीयन हुआ है जिनमें से हम केवल 50 की बर्दाशत क्षमता से भिन्न हैं। अपने देश में चालीस ऐसे रसायन और कीटनाशक कृषि क्षेत्र में प्रयोग में लाये जा रहे हैं, जो विदेशों में प्रतिबंधित हैं। अमेरिका में डीडीटी और डेलड्रिन जैसे कीटनाशक 1972 और 1970 से प्रतिबंधित हैं जबकि हमारे यहां इन पर ऐसी कोई रोक नहीं है। अपने यहां कीटनाशकों का प्रयोग जिस लापरवाही से हो रहा है, उससे न केवल प्रयोगकर्ता के स्वास्थ्य पर बुरा प्रभाव पड़ रहा है अपितु हवा, पानी और सभी प्रकार के खाद्य पदार्थ भी विषैले हो रहे हैं। 'विश्व



सब्जियों को ताजा या हरा दिखाने के लिए दुकानदार हानिकारक कृत्रिम रंगों का प्रयोग करते हैं। शहरी क्षेत्रों के आस-पास सीवर, प्रदूषित नदियों और गन्दे नालों से पानी से तथा औद्योगिक कचरे पर उगने वाली सब्जियों में हानिकारक पदार्थ मौजूद होते हैं। इसलिए कच्चा सलाद जो कभी स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होता था, अब हानिकारक सिद्ध होने लगा है।

स्वास्थ्य संगठन' के अनुसार मां के दूध में डीडीटी की मात्रा, मनुष्य के शरीर के लिए निर्धारित सामान्य मात्रा से 77 गुना अधिक हो चुकी है। अहमदाबाद स्थित 'कंज्यूमर एजुकेशन एंड रिसर्च सोसायटी' ने अपने एक अध्ययन में आटे के एक मशहूर ब्रांड में खतरनाक रसायन 'लिंडेन' पाया था।

कीटनाशकों के प्रयोग के कारण सिंचाई में प्रयुक्त होने वाला पानी विषैला हो रहा है और यह भूमिगत जल को विषाक्त कर रहा है। इस कारण जमीन की उर्वरता घट रही है। पानी में जहर घुलने के कारण उसमें रहने वाले

तमाम जीव-जन्तु, जैसे घोंघा, सीप, मेंढक और छोटी-छोटी मछलियों की प्रजातियां समाप्त होती जा रही हैं। कारखानों के विषैले कचरे और गंदे नालों के रासायनिक अवशेषों से मछलियों का डीएनए खतरे में पड़ गया है। मछलियों में भारी मात्रा में कीटनाशक, हाइड्रोकार्बन और भारी धातुओं के अवशेष मौजूद हैं। घर-आंगन की गौरैया लुप्त होने के कगार पर है। जाहिर है, पशु-पक्षी भी विषैले खाद्य पदार्थों और वनस्पतियों को खाकर मर रहे हैं।

देश के ज्यादातर किसान अशिक्षित हैं। कृषि की सेवाएं गांव-गांव उपलब्ध नहीं हैं। कीटनाशकों का चयन बिना जांचे-परखे किया जाता है। पानी में मिलाए जाने वाले कीटनाशकों की मात्रा अंदाज से डाली जाती है। दवाओं के साथ दिए निर्देश ज्यादातर किसान पढ़ नहीं पाते हैं। सब्जियों के ऊपर कीटनाशक छिड़कने के तुरंत बाद वे बाजार में बेच दी जाती हैं। फल प्राकृतिक ढंग से पकने नहीं दिए जाते हैं। उन्हें कार्बाइड से पकाया जाता है। केले को पकाने वाला क्लोरोथाइल फास्फोनिक एसिड उसे जहरीला बना रहा है। सब्जियों और फलों के छिलकों में घुले कीटनाशक, हमारे शरीर में पहुंच रहे हैं। ज्यादा दूध के लालच में दुधारूपशुओं के स्तनों में 'आक्सीटोक्सीन' इंजेक्शन लगाकर दूध को विषाक्त किया जा रहा है। इस कारण हारमोन्स असंतुलन, गुर्दे की खराबी, कैंसर और बच्चों में मानसिक विकृतियां पैदा हो रही हैं। 'इंडियन काउंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च' ने 2205 गायों और भैंसों के दूध का परीक्षण करने पर पाया है कि 85 प्रतिशत जानवरों में कीटनाशकों की मात्रा 'भारतीय मानक ब्यूरो' द्वारा निर्धारित मात्रा से ज्यादा है। इस मामले में पंजाब के भटिंडा और वारांगल में सबसे ज्यादा कीटनाशकों का प्रयोग हुआ है। इसका कुफल यह है कि आज यहां सबसे ज्यादा बांझपन और कैंसर के मरीज बढ़े हैं। भटिंडा के ज्यादातर जमीनी पानी में क्लोराइड की मात्रा, तय मानक से ज्यादा है तथा वहां की जमीन बंजर हो रही है।



सब्जियों को ताजा या हरा दिखाने के लिए दुकानदार हानिकारक कृत्रिम रंगों का प्रयोग करते हैं। शहारी क्षेत्रों के आस-पास सीवर, प्रदूषित नदियों और गन्दे नालों से पानी से तथा औद्योगिक कचरे पर उगने वाली सब्जियों में हानिकारक पदार्थ मौजूद होते हैं। इसलिए कच्चा सलाद जो कभी स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होता था, अब हानिकारक सिद्ध होने लगा है। इसके उलट कीटनाशक बनाने वाली कम्पनियों के दबाव में सुलभ और सस्ती जैविक (आर्गेनिक) खेती को हतोत्साहित किया जा रहा है। कुतर्क यह दिया जाता है कि विश्व की तुलना में भारत में केवल दो प्रतिशत कीटनाशकों का प्रयोग होता है जबकि खाद्यान्न उत्पादन में भारत का हिस्सा 16 प्रतिशत है। इन तथ्यों को नजर अंदाज किया जाता है कि विदेशी कम्पनियों द्वारा हमारे देश में प्रतिबंधित दवाएं बेच दी जाती हैं।

देश की छह फसलों में कुल 81 प्रतिशत कीटनाशकों का प्रयोग होता है। इनमें से कपास में यह 32, धान में 23, सब्जियों में 9, दालों में 6, मिर्च में 5 और वृक्षारोपण में 6

प्रतिशत है। आंध्रप्रदेश में सबसे ज्यादा (24.05 प्रतिशत) कीटनाशकों का प्रयोग होता है। इसके बाद पंजाब में 16.02, महाराष्ट्र में 8.63, कर्नाटक में 8.24, हरियाणा में 7.37, गुजरात में 6.83, पं.बंगाल में 5.21 और तमिलनाडु में 5.09 प्रतिशत का नम्बर आता है।

खेती-बाड़ी में कीटनाशक और खरपतवार नाशकों के अंधाधुंध प्रयोग के कारण हमारे देश में गुर्दे, त्वचा, बांझपन, अल्सर और कैंसर की बीमारियां तेजी से बढ़ी हैं। इसलिए जरूरी है अविलम्ब जैविक (आर्गेनिक) खेती को बढ़ावा देने की। नीम, राख और तम्बाकू में कीटनाशक गुण पाए जाते हैं। पश्चिमी उत्तर प्रदेश के किसानों ने तम्बाकू और लहसुन के पानी का प्रयोग कर फसलों को कीड़ों से बचाना शुरू कर दिया है। बहरहाल, जब तक कीटनाशकों से पूर्ण मुक्ति का रास्ता नहीं निकल जाता, तब तक किसानों को प्रशिक्षित कर इन्हें सुरक्षित और नियंत्रित तरीके से प्रयोग करने की हिदायत तो दी ही जानी चाहिए।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)



- “The best executive is the one who has sense enough to pick good men to do what he wants done, and self-restraint to keep from meddling with them while they do it.”

-Theodore Roosevelt





घर में घुस रहा प्रदूषण का कहर

वायु प्रदूषण का खतरा धूलकण और कालिख से बनने वाले फाइन पार्टिकुलेट मैटर यानी पीएम 2.5 का स्तर बढ़ने से होता है। यह अति सूक्ष्म कण होने के कारण श्वसन नली के जरिए फेफड़ों में समा जाता है और बीमारियां पैदा करता है। इसकी मात्रा कार, मोटर और फैक्ट्रियों से निकलने वाले धुएं में सबसे ज्यादा होती है। यह धारणा भी कि सिर्फ घर के बाहर का वायु प्रदूषण ही आपके बीमार कर रहा है, सही नहीं है। असलियत तो यह है कि घर के अंदर जुटाई गई सहुलियत की चीजें भी आपको नुकसान पहुंचा रही हैं।



आ | ज समूची दुनिया में तेजी से हो रहे औद्योगिक विकास और वाहनों की बढ़ती तादाद के कारण वायु प्रदूषण का स्तर बढ़ता जा रहा है। नतीजतन फेफड़े और सांस संबंधी बीमारियों के आंकड़ों में इजाफा दर्ज किया गया है। इससे भारत पर भी संकट गहराता जा रहा है। हालात यहां तक खराब हो गए हैं कि कई देशों में वायु प्रदूषण के चलते लोग समय पूर्व मौत के शिकार हो रहे हैं। एक अनुमान के अनुसार तकरीबन 21 लाख लोग हर साल प्रदूषण की वजह से मौत की गोद में समा जाते हैं। जहां तक भारत का सवाल है, देश की राजधानी दिल्ली सबसे ज्यादा दमघोंटू साबित हो रही है। यहां प्रदूषण का स्तर लगातार बढ़ता जा रहा है। उस हालत में जबकि दुनिया के सबसे अधिक प्रदूषित दस स्थानों में तीन भारत के हैं।

न्यूयार्क के एनजीओ ब्लैक स्मिथ इंस्टीट्यूट द्वारा अलग-अलग मानकों के मुताबिक जारी रिपोर्ट के मुताबिक भारत में मध्यप्रदेश का भोपाल, केरल का कसारगॉड और ओडिशा का सुकिंदा ऐसे तीन स्थान हैं जो दुनिया के दस सबसे अधिक प्रदूषित स्थानों में शामिल हैं। भोपाल में 1984 में हुए गैस हादसे की जगह अभी तक साफ नहीं

कराई जा सकी है। इससे दूषित हुआ भूजल लोगों के शरीर में जहर पहुंचा रहा है। नतीजतन इस इलाके में पैदा होने वाले बच्चों में जन्म से ही कई बीमारियां रहती हैं। केरल के कसारगॉड जिले में काजू के बागों पर 20 सालों से एंडोसल्फान कीटनाशक के छिड़काव का नतीजा है कि इस इलाके के 73 फीसद से ज्यादा लोग अपंग हैं। उड़ीसा का सुकिंदा ऐसा इलाका है जहां देश की 97 फीसद कोमिटे की खाने हैं जो क्रोमियम का स्रोत है। गौरतलब है कि हैक्सवेलैंड क्रोमियम फेफड़े के कैंसर के सबसे बड़े कारणों में से एक है।

अमेरिका की स्पेस एजेंसी नासा और आईआईटी दिल्ली के एक संयुक्त अध्ययन में खुलासा हो चुका है कि मुंबई की आबादी दिल्ली से कहीं ज्यादा है, फिर भी वहां दिल्ली के मुकाबले प्रदूषण काफी कम है। डब्ल्यूएचओ के मानकों के हिसाब से दिल्ली में बीते दशक में प्रदूषण चार गुना से अधिक बढ़ गया है। यही नहीं, समूचे देश में पर्यावरणीय प्रदूषण डब्ल्यूएचओ की ओर से निर्धारित मापदंडों से दो पांच गुणा तक अधिक है। यह पहला ऐसा अध्ययन है जिसमें पूरे देश के क्षेत्रवार आंकड़े जुटाए जा सके हैं। मौजूदा समय में इससे देश के कुछ केन्द्रों के प्रदूषण

के आंकड़े ही दे पा रहा है, जबकि केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड शहरी इलाकों के आंकड़ें ही दे पाने में सक्षम है। अध्ययन से पता चलता है कि थार रेगिस्तान से आने वाली हवा भी दिल्ली की आबोहवा को प्रदूषित करने का एक बड़ा कारण है। माना जाता है कि शहरों में स्थानीय कारणों से ही प्रदूषण बढ़ता है। लेकिन यह अध्ययन बताता है कि बाहर से आने वाली हवा भी इसका कारण हो सकती है। प्रदूषक तत्व लिए यह हवा जिस क्षेत्र से गुजरती है, वहां प्रदूषण बढ़ जाता है। शहरों में ही नहीं, गांवों में भी प्रदूषण बढ़ा है। प्लास्टिक कचरा, घरों से निकलने वाला गंदा पानी और खेतों में रसायनों का अत्याधिक प्रयोग इसका बड़ा कारण है। आईआईटी दिल्ली के वैज्ञानिक डॉ. सागानिक डे के अनुसार यह मान्यता कि सिर्फ गाड़ियां व एसी आदि ही प्रदूषण फैलाने के प्रमुख कारक होते हैं, गलत है। असल में किसी शहर में अन्य जगह से आने वाली हवा और अन्य भौगोलिक परिस्थितियां भी इसका अहम कारण होते हैं।

वायु प्रदूषण का खतरा धूलकण और कालिख से बनने वाले फाइन पार्टिकुलेट मैटर यानी पीएम 2.5 का स्तर बढ़ने से होता है। यह अति सूक्ष्म कण होने के कारण श्वसन नली के जरिए फेफड़ों में समा जाता है और बीमारियां पैदा करता है। इसकी मात्रा कार, मोटर और फैक्ट्रियों से निकलने वाले धुएं में सबसे ज्यादा होती है। यह धारणा भी कि सिर्फ घर के बाहर का वायु प्रदूषण ही आपके बीमार कर रहा है, सही नहीं है। असलियत तो यह है कि घर के अंदर जुटाई गई सहूलियत की चीजें भी आपको नुकसान पहुंचा रही हैं। डब्ल्यूएचओ और चंडीगढ़ के पल्मोनरी मेडिसिन विभाग द्वारा किए गए अध्ययन में यह बात सामने आई है कि शहरी क्षेत्र में बढ़ती सीओपीडी यानी सांस संबंधी बीमारी का प्रमुख कारण घर के भीतर का प्रदूषण है। अध्ययन में ग्रामीण क्षेत्रों में भी घरों के अंदर का प्रदूषण स्तर बढ़ा हुआ पया गया। शहरी क्षेत्रों में पैसिव स्मोकिंग, इलेक्ट्रॉनिक व रेडिएशन उपकरणों के साथ ही घरों में हवा का निकास या प्रवेश न होने से सास संबंधी संक्रमण बढ़ा



अमेरिका की स्पेस एजेंसी नासा और आईआईटी दिल्ली के एक संयुक्त अध्ययन में खुलासा हो चुका है कि मुंबई की आबादी दिल्ली से कहीं ज्यादा है, फिर भी वहां दिल्ली के मुकाबले प्रदूषण काफी कम है। डब्ल्यूएचओ के मानकों के हिसाब से दिल्ली में बीते दशक में प्रदूषण चार गुना से अधिक बढ़ गया है। यही नहीं, समूचे देश में पर्यावरणीय प्रदूषण डब्ल्यूएचओ की ओर से निर्धारित मापदंडों से दो पांच गुणा तक अधिक है।



है, जबकि गांवों में वायोफ्यूल जैसे कि स्टोव, चूल्हा आदि को इसका प्रमुख कारण माना गया है। दिल्ली में प्रदूषण की खराब स्थिति होती स्थिति के लिए कई कारक जिम्मेवार हैं। स्थिति यह है कि यहां तय मानक से कई गुना ज्यादा ध्वनि प्रदूषण है। इससे लोगों में उच्च रक्तचाप और सुनने की क्षमता प्रभावित हो रही है। साथ ही बुजुर्गों को अनिद्रा की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। यहां बाहरी रिंग रोड पर दिनोंदिन भारी व हल्के वाहनों के बढ़ते जाम की वजह से बढ़ रहा ध्वनि प्रदूषण लोगों को बीमार कर रहा है।

जहां तक प्रदूषण घटाने के मामले में सरकार के



प्रयास का सवाल है, तो इस बार में यही कहा जा सकता है कि दिल्ली में इस समस्या से निपटने के लिए सरकार कोई ठोस कदम नहीं उठा सकी है। जबकि दुनिया के सबसे प्रदूषित शहरों में से एक बीजिंग और दिल्ली में प्रदूषण पर लगाम लगाने की योजना एक साथ ही बनी थी। यदि सीएसई की मानें तो उसके अध्ययन के अनुसार साल 2008 से 2014 के दौरान बीजिंग में इस दिशा में दिल्ली की तुलना में कहीं बेहतर प्रयास हुए हैं। वहां उठाए गए सख्त कदमों से हालात पहले से बेहतर है, जबकि दिल्ली में और बदतर हुए हैं। वहां गाड़ियों की ब्रिकी सीमित की गई है, साथ ही यदि किसी दिन प्रदूषण का स्तर अधिक होता है, तो प्रशासन लोगों से घरों के अंदर रहने की अपील करता है। यही नहीं, वहां पर डीजल कारों का पंजीकरण बिल्कुल बंद कर दिया गया है। जबकि दिल्ली में पिछले चार सालों की तुलना में इस साल वायु प्रदूषण का स्तर 10

से 20 फीसद तक बढ़ा है।

केन्द्र सरकार की संस्था सिस्टम ऑफ एयर क्वालिटी एंड रिसर्च के अनुसार दिल्ली में वायु प्रदूषण का स्तर मानकों से तीन से पांच गुणा तक अधिक है। उसके अनुसार हम बेहतर आंकड़े प्राप्त करते हैं लेकिन उसके आधार पर खतरे का आकलन कर उसके बारे में लोगों को जागरूक कर पाने में नाकाम रहते हैं। इसमें दो राय नहीं कि दिल्ली में प्रदूषण नियंत्रण की खातिर पिछले सालों में बहुतेरी कमेटियां बनीं, लेकिन वे समुचित कार्रवाई करने में नाकाम रहीं। इन हालात में प्रदूषण के स्तर में कमी की आशा बेमानी ही प्रतीत होती है। अब देखने वाली बात यह है कि भविष्य में सरकार इस जानलेवा चुनौती से निपटने के लिए कितने संजीदा और कारगर प्रयास करती है।

(साभार : राष्ट्रीय सहारा)

- "A leader is best when people barely know he exists, when his work is done, his aim fulfilled, they will say: we did it ourselves."

— Lao Tzu

- "A leader is one who sees more than others see, who sees farther than others see, and who sees before others see."

— Leroy Eimes



देश की वर्तमान समस्या-युवाओं को रोजगार

● सरिता मालवीय



देश की जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनकर उनसे जिस प्रकार के कार्य व सफलता की उम्मीद करती उस पर वे खरे नहीं उतर रहे हैं। वर्तमान समय में देश के युवाओं की प्रमुख समस्या बनी हुई है उनके लिये रोजगार की। इस समस्या को सरकार दूर नहीं कर पा रही है। उनकी इस समस्या के कारण उन्हें रोटी, कपड़ा व मकान की समस्या भी बनी हुई है। इसे दूर करने के लिये सरकार को प्रयास करना चाहिये जिससे देश विकास की ओर जाये। इस समस्या के कारण कहीं न कहीं देश का विकास अवरूद्ध हो रहा है।



भा | रत देश ऐसे देश की श्रेणियों में आता है जिसका जनसंख्या घनत्व अधिक है। भारत एक लोकतंत्रात्मक देश है अर्थात् जनता का शासन। जनता के शासन से तात्पर्य है कि जनता द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों के द्वारा सरकार का शासन। अतः यह भी कहा जा सकता है कि भारत एक विशाल जनशक्ति युक्त देश है तथा इस जनशक्ति का सदुपयोग करने के लिये बहुत तेज दिमाग और एक नेक दिल की आवश्यकता है। भारत के हालात या स्थिति को देखकर कोई नहीं कह सकता है कि यहाँ पर देश की विशाल जनशक्ति का किसी प्रकार का सदुपयोग किया जा रहा है।

देश की जनता अपने प्रतिनिधियों को चुनकर उनसे जिस प्रकार के कार्य व सफलता की उम्मीद करती उस पर वे खरे नहीं उतर रहे हैं। वर्तमान समय में देश के युवाओं की प्रमुख समस्या बना हुई है उनके लिये रोजगार की। इस समस्या को सरकार दूर नहीं कर पा रही है। उनकी इस समस्या के कारण उन्हें रोटी, कपड़ा व मकान की समस्या भी बनी हुई है। इसे दूर करने के लिये सरकार को प्रयास करना चाहिये जिससे देश विकास की ओर जाये। इस समस्या के कारण कहीं न कहीं देश

का विकास अवरूद्ध हो रहा है।

भारत सरकार को विकास के लिये कार्यक्रम बनाते समय ध्यान रखना चाहिये कि देश में ग्रामीण एवं शहरी क्षेत्र है जिनकी आवश्यकतायें अलग-अलग हैं। सरकार को सर्वप्रथम इन क्षेत्रों का सर्वे करना चाहिये जिसके पश्चात् ही उनकी आवश्यकतानुसार ही इन क्षेत्रों का आधुनिकीकरण करना चाहिये।

भारत की वर्तमान समस्या रोजगारी की है जो युवाओं को परेशान कर रही है। कुछ समय से देश में यह समस्या बढ़ती ही जा रही है। जब से विश्व कारोबार में मंदी का दौर चला है तब से इस समस्या में कुछ ज्यादा ही बढ़ोत्तरी हुई है। इसका असर भारत में कुछ कम नहीं हुआ। अमेरिका तथा यूरोप जैसे देशों में कारोबार में मंदी आ जाने से भारत देश में रोजगार की समस्या बड़ी हो गई है।

स्वतंत्रता के पश्चात् से ही भारत ने आधुनिकता की ओर जाने के कई प्रयास किये हैं परंतु जनसंख्या वृद्धि एवं लोगों में शिक्षा की कमी ने उसके कदम रोक लिये हैं। वर्ष 1951 में हुई जनगणना के आधार पर देश की जनसंख्या लगभग 36 करोड़ थी जो निरंतर वृद्धि करती हुई वर्तमान समय में 2011 की



► **उच्च शिक्षा पाने के बाद कोई भी व्यक्ति रोजगार पाये ऐसा आवश्यक नहीं है, उच्च शिक्षा पाने के बाद व्यक्ति अपने समाज का उद्धार नहीं करता हैं। जैसे यदि वह ग्रामीण क्षेत्र का है तो उच्च शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वह उस क्षेत्र का विकास न कर स्वयं उस क्षेत्र को छोड़कर विकसित क्षेत्र में चला जाता है अतः उस क्षेत्र के विकास में कोई योगदान नहीं देता है। शैक्षिकता के अनुसार रोजगार नहीं प्राप्त होने पर वह कुंठित रहता है तथा दूसरे योग्य व्यक्तियों के प्रति घृणा की भावना से ग्रसित हो जाता है। सम्पूर्ण भारत की ओर ध्यान दे तो केवल दक्षिण भारत क्षेत्र में ही शिक्षा का स्तर अपेक्षाकृत अच्छा कहा जा सकता है।**

जनगणना के अनुसार लगभग 21 करोड़ हो गई है। भारत में जनसंख्या का ग्राफ बहुत अधिक तेजी से वृद्धि की ओर जा रहा है।

भारत की इतनी जनसंख्या के लिये प्राकृतिक साधनों के अतिरिक्त अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करना की सरकार के समक्ष सबसे बड़ी चुनौती का विषय बना हुआ है। इतनी जनसंख्या के लिये पीने का पानी, मकान, स्वास्थ्य मनोरंजन के साधन आदि ढेर सारी आवश्यकतायें जिनके लिये सरकार को व्यवस्था करना है वह स्वयं को जनता के लिये सही सिद्ध करना है, जो कार्य अभी तक सरकार पूर्ण रूप से नहीं कर पाई है। इन सबके के साथ रोजगार की समस्या तो है ही जा सरकार को हल करना है।

भारत देश में शिक्षा के क्षेत्र में ध्यान दें तो कहा सकता है कि सरकार ने भारतवासियों को शिक्षित करना का काफी हद

तक प्रयास किया है परंतु उस प्रयास से उम्मीद के अनुसार न ही संतुष्ट कर पाया तथा न ही सफलता हासिल कर पाया है। शिक्षा की अवहेलना करना कहीं न कहीं सभी व्यक्तियों व सरकार को मंहगा पड़ सकता है। रोजगार की समस्या का आधार केवल शिक्षा को ही माने तो यह सही नहीं होगा। जिन लोगों ने प्राथमिक शिक्षा ग्रहण नहीं की है या किसी कारणवश प्राथमिक शिक्षा से वंचित रह गया हो तो ऐसे व्यक्ति अधिकतर मजबूर, कुंठित व निर्धन होता है, वह हर पग-पग पर स्वयं को हीन महसूस करता है। वह तो शिक्षा के अभाव में स्वयं को ऐसा महसूस करता है परंतु वे व्यक्ति जो उच्च शिक्षा पाने से वंचित रह जाते हैं, ये उच्च शिक्षा की कमी उनके लिये कम हानि नहीं है। शिक्षा की कमी या अधूरी शिक्षा एक ऐसी कमी है जो समाज की शान्ति को भंग कर सकती है तथा वे समाज को उपर से नीचे की ओर धकेलता है। ये लोग समाज में किसी भी प्रकार की समृद्धि नहीं लाते हैं।

वहीं उच्च शिक्षा पाने के बाद कोई भी व्यक्ति रोजगार पाये ऐसा आवश्यक नहीं है, उच्च शिक्षा पाने के बाद व्यक्ति अपने समाज का उद्धार नहीं करता हैं। जैसे यदि वह ग्रामीण क्षेत्र का है तो उच्च शिक्षा ग्रहण करने के पश्चात् वह उस क्षेत्र का विकास न कर स्वयं उस क्षेत्र को छोड़कर विकसित क्षेत्र में चला जाता है अतः उस क्षेत्र के विकास में कोई योगदान नहीं देता है। शैक्षिकता के अनुसार रोजगार नहीं प्राप्त होने पर वह कुंठित रहता है तथा दूसरे योग्य व्यक्तियों के प्रति घृणा की भावना से ग्रसित हो जाता है। सम्पूर्ण भारत की ओर ध्यान दे तो केवल दक्षिण भारत क्षेत्र में ही शिक्षा का स्तर अपेक्षाकृत अच्छा कहा जा सकता है। देश से बाहर उच्च पद या उच्च वेतन पर कार्य करने के लिये जाने वाले व्यक्तियों की संख्या इसी क्षेत्र में अधिक है।

भारत में स्वतंत्रता पश्चात् शिक्षा का विकास जनसंख्या के अनुरूप जितना होना चाहिये उतना नहीं हो पाया है। शिक्षा के क्षेत्र में तो बांग्लादेश ने भारत को भी पीछे छोड़ दिया है। भारत की तुलना बांग्लादेश से की जाये तो पायेंगे कि भारत में औसत व्यक्ति 4.4 वर्ष ही विद्यालय में शिक्षा ग्रहण करने आता है जबकि बांग्लादेया में 4.8 वर्ष औसत व्यक्ति शिक्षा ग्रहण करता है। इसके अतिरिक्त बांग्लादेश में महिला साक्षरता 78 प्रतिशत है जबकि भारत में महिला साक्षरता 74 प्रतिशत ही है।

भारत में शिक्षा का स्तर उपर न उठने का कारण कहीं न कहीं मध्यप्रदेश जैसे राज्य भी है। यहां पर सरकार के कई प्रयास के बावजूद भी शिक्षा का स्तर नहीं सुधर पाया है। यहां पर



अधिकतर जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास कर रही है। इन ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षित व्यक्तियों की संख्या का अनुपात कम ही है। वहां के जो लोग उच्च शिक्षा प्राप्त कर चुके हैं वे ग्रामीण क्षेत्रों में नहीं रहना चाहते हैं न ही खेती आदि का काम करना चाहते हैं न ही खेती के नये तरीकों की जानकारी प्राप्त कर उस क्षेत्र की वृद्धि करना चाहते हैं।

मध्यप्रदेश की 70-75 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है और यहां के 70-75 प्रतिशत व्यक्ति अशिक्षित होते हैं। जो लोग शिक्षित होना चाहते हैं या अपने बच्चों को उच्च शिक्षा देना चाहते हैं उन्हें बच्चों को शहर में भेजना पड़ता है जिसके लिये वे अर्थिक रूप से कमजोर हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त छात्रावास आदि की व्यवस्था कर बाहर रहना से खर्चा अधिक होता है जिसका वहन आमतौर पर ग्रामीण निवासी नहीं कर पाता है जिसके कारण वे उच्च शिक्षा से वंचित रह जाते हैं।

जिन व्यक्तियों ने कम शिक्षा प्राप्त की है वे अधिक प्रयास के पश्चात् भी उच्च पद पर नहीं पहुँच पाते हैं, न ही पूर्ण रूप से सफलता प्राप्त कर पाते हैं और उच्च शिक्षा से वंचित होने के कारण स्वयं को हीन भावना से ग्रसित कर लेते हैं तथा उच्च शिक्षित व सफल व्यक्ति से कटुता बनाये रखते हैं, उनकी यही कुंठित भावना कार्यस्थल पर एक विभाजित समाज का निर्माण करती है। इसी कुंठा का परिणाम है श्रमिकों तथा प्रबंधकों के बीच सदैव सामंजस्य का अभाव होता है।

विश्व में जितने भी विकसित देश कहे जाते हैं, उन विकसित देशों (ओ. आई. सी. डी.) सदस्यों में भी एक बड़ी चिंता व्यक्त की जा रही है कि विकसित देशों में बेरोजगारी ने अपना मकड़जाल फैला दिया है वहां भी यह आंकड़ा 5 से 10 प्रतिशत हो गया है। विकसित देशों में सह चिंता का विषय बन गया है क्योंकि यह समस्या उनके देश के विकास को अवरुद्ध करता है। अभी हाल ही खबर आई थी कि अमेरिका में हाइवे पर माल ढलाई के लिये ड्राइवर सहित स्वचालित ट्रक बन चुका है। इसके आ जाने से कहा जा रहा है कि 57 लाख ड्राइवर बेरोजगार हो जायेंगे।

भारत देश भी विकास ओर कदम बढ़ा रहा है परंतु उसके इस विकास में कहीं न कहीं बेरोजगारी की समस्या एक बाधा बन रही है। यहां भी श्रमिकों के लिये आने वाले समय में बेरोजगारी की समस्या आ सकती है। समय के अनुसार ऐसे परिवर्तन होते रहें ए. टी. एम. से जैसे पैसे निकालते हैं वैसे ही चॉकलेट, काल्ड्रिंक आदि सामान भी वेंडिंग मशीन से ही निकलेगें।

भारत एक विशालतम जनशक्ति वाला देश है। इस



मध्यप्रदेश की 70-75 प्रतिशत जनसंख्या ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है और यहां के 70-75 प्रतिशत व्यक्ति अशिक्षित होते हैं। जो लोग शिक्षित होना चाहते हैं या अपने बच्चों को उच्च शिक्षा देना चाहते हैं उन्हें बच्चों को शहर में भेजना पड़ता है जिसके लिये वे अर्थिक रूप से कमजोर हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त छात्रावास आदि की व्यवस्था कर बाहर रहना से खर्चा अधिक होता है जिसका वहन आमतौर पर ग्रामीण निवासी नहीं कर पाता है जिसके कारण वे उच्च शिक्षा से वंचित रह जाते हैं।



जनशक्ति का सदुपयोग करने के लिये तेज दिमाग व एक अच्छा दिल की आवश्यकता है। जो इस जनशक्ति के माध्यम से देश को विकास की ओर ले जाये। सरकार को सफलता हासिल करने के लिये कई प्रयास करना होंगे जैसे- शिक्षा का स्तर सुधारना, युवाओं विभिन्न प्रकार के रोजगार के लिये तैयार करना एवं ग्रामीण क्षेत्रों को विकसित करना आदि। सरकार को युवाओं की रोटी, कपड़ा व मकान जैसी समस्याओं को रोजगार देकर हल करना। उच्च शिक्षा वालों के लिये निजी सेक्टर में पद बढ़ाना निजी सेक्टरों को गति देना आदि।

बढ़ती हुई जनसंख्या को नियंत्रित करने के उपायों को प्रमोट करने के साथ-साथ बढ़ी हुई जनसंख्या को विकास की ओर ले जाने के लिये पूँजी, शिक्षा, कौशल, भूमि, उद्यम, रोजगार आदि की उचित व्यवस्था एवं ज्ञान देकर युवाओं का मनोबल बढ़ाना होगा जिससे देश विकास की ओर अग्रसर हो तथा विकसित देशों की श्रेणी में आ सके।

लेखिका

वरकतउल्लाह विश्वविद्यालय भोपाल में



QUALITY EDUCATION IN INDIA

● Vivek Pendharkar

The present educational system has its school infrastructure all over the country where the students are taught traditional syllabus. Our children of today are the future of child growth in the right direction our constitution provides for free and compulsory Educations to all children till the age of fourteen years.

The term Education means imparting of intellectual and moral training or “to strengthen powers of body and mind.” We can educate an animal also but the man being a person having intellect to differentiate right and wrong is most eligible for formal education. Literacy means “pertaining to letters of alphabet”. Thus literacy is not exactly the education. Literacy brings awareness and harbinger of development. Education not only sharpens one’s intellect but it also enlightens one’s soul. Education is a means of awareness of the masses. It has a direct impact on the lives of the people. The progress of a nation depends upon the quality of education that is imparted to its young citizens.

We inherited an educational system from the British and particularly from Macaulay. The Britishers wanted an intermediate class of Indians Between the rulers and the masses who would be a class of persons, Indians in blood and colour, but English in taste, in opinions, in morals and in intellect. Towards this end they education. Since the Britishers were not guided by any other

motive other than perpetrating their interest of ruling India, their so called Modern Education produced ‘Babus’. The Education policy was and even after Independence is urban based. The British deliberately alienated rural masses from education.

The present educational system has its school infrastructure all over the country where the students are taught traditional syllabus. Our children of today are the future of child growth in the right direction our constitution provides for free and compulsory Educations to all children till the age of fourteen years. What does education means? Whether it means gathering all the information and literally conserving it in mind or it means the flowering of personality in totality. At present most schools are busy trying to com plate a syllabus and preparation for examination which allows no space for different frame works of learning or understanding. Sometimes the so-called illiterates are more intelligent and wise in their day to day life. The British and today’s Education produced reservoirs of information which children cram in their



schools but the real spirit of education which enlightens a man's personality is missing .

Though the literacy rate has gone up. The quality of education has deteriorated. College and universities have become centers of producing degree holders and thus created the problem of unemployment. The present educational programmes or course are not relevant to the existing Social needs. The age old class room teaching method is becoming absolute and ineffective. It does not inculcate analytical sense. India is a country of villages and therefore till the masses living in villages are not educated, we cannot claim to be wholly literate nation. Even the students who have passed Higher Secondary and degree level Exams, their education can not be called perfect. It is because the quality of Education has worsened. It is high that educator and society in India wake up. It is time for the reawakening for value based and quality education.

To improve the quality of education the educators have to think seriously. First of all we have to rethink about the curriculum of primary and higher Secondary Schools. It is not enough that by making the syllabus vast and difficult, we can raise the standard of Education. While framing syllabus we have to take into consideration the learner's profile thinking and the environment in which he is brought up. Whether the schools are fully equipped for the courses provided in the syllabus. The syllabus should not be so hard that it becomes burden to the learner. and kills the spirit and zeal of learning. It weathers out the enthusiasm of the Lerner.

In this context the role of teacher becomes very important. The teacher should not give discourses but adopt the conversational methods Through

conversations he can give his pupils progressive instructions in History, Geography and arithmetic. The teaching of history should begin with that of our time and the events happening around us, geography can be taught with that of the neighborhood of school. Science as well can be taught in applicant way, and it is certain that more knowledge can be given to students through it and without strain on them, can be given through the orthodox method within a given time.

The concept of " School beyond walls" is also helpful in upgrading the quality of education. The quality of education means whatever students learn, they should not only understand but also should have clear concept. "The school beyond walls" will break the monotony and monopoly of schooling. This fundamentally pushes our thinking about the relationships and environments for learning. This will give them exposure and will acquaint them with the events taking place arounding them. We are now in 21st century and we can not forget the role of information technology in the quality education.

In context of quality education the teacher's role becomes very important. The teachers should give new ideas to the students and prepare climate for research. Though researcher's are not meat for average students but inclination to study intensively can be generated by the teachers. Late Makhan Lal chaturvedi, a freedom fighter and a men of letters has very rightly commented that good teachers are beyond any measure of price and bad teachers make us a lot to play.

*Writer is Export of
Development Sector Bhopal (M.P.)*



AN ARMY OF TEACHERS

● Arzun Subramaniam

A majority of officers in the three services retire between the ages of 54 and 56. Many of them are post-graduates with varied competencies. A large number have teaching and instructional experience in institutions of professional learning spread across the services. The number of doctorates among officers is also increasing. While the corporate sector has welcomed retiring officers with open arms, the same cannot be said of education.

Thousands of personnel from the armed forces retire every year and resettle in civil society, with many taking up a second career. While attempts have been made by the services and the government to ensure integration of these personnel into society, much can still be done to leverage the wide range of competencies they have to offer. Recent initiatives to give a serious push to the education sector present an excellent opportunity for the three services to offer skilled manpower and help make India a large repository of human capital. In pursuit of this objective, there is a need to induct ex-servicemen into the education sector.

The diversity of competencies and qualifications possessed by retiring personnel makes it important to highlight these, so that matching them with suitable institutions becomes easier. Many personnel below officer rank in the army, who retire from the Army Education Corps (AEC) and other technical branches, may have had an opportunity to acquire a graduate degree

through correspondence. Apart from an excellent potential to teach in schools, those from the Corps of Signals, Corps of Engineers and Corps of Electrical and Mechanical Engineers (EME) are ideally suited to teach at vocational training institutes and ITIs. As far as the navy and air force are concerned, a large percentage of personnel who retire between the ages of 35-45 are graduates; a few are post-graduates, capable of being trained and absorbed at college level, and sometimes even at university level.

A majority of officers in the three services retire between the ages of 54 and 56. Many of them are post-graduates with varied competencies. A large number have teaching and instructional experience in institutions of professional learning spread across the services. The number of doctorates among officers is also increasing. While the corporate sector has welcomed retiring officers with open arms, the same cannot be said of education.

Opportunities abound for ex-servicemen to



be absorbed in the sunrise education sector if the right approach is identified. Starting with a bottom-up approach, a number of personnel retire and settle down in their native villages or towns, taking up jobs in the unorganised sector or looking after their ancestral property. Those with graduate degrees can easily be motivated to become school teachers after appropriate training, which need not be a B.Ed. Personnel with a technical background can join vocational institutes. Officers with more qualifications can easily join colleges, ITIs and other vocational institutes as lecturers, administrators and counsellors after appropriate training. Highly qualified officers can be offered professorships, depending on their experience, competence and willingness. On a different plane, the UGC can offer competitive fellowships and visiting faculty positions to highly qualified serving officers for up to two years at prestigious institutions like IIT, NIT, AIIMS. At senior levels, retiring officers could be included in selection panels for positions like deans or vice chancellors of universities.

The first step would be an inter-ministerial understanding and awareness drive, followed by familiarisation visits by HRD ministry officials and professionals from NCERT, UGC and vocational institutes to training establishments and units across the services. These visits could be coordinated by the Directorate General of Resettlement, and would lay the foundation of a long-term relationship between the services and the education sector.

The next step would be to identify vacancies and training requirements, apart from deciding on remuneration packages. Since higher education is being privatised,

bringing the private sector on board is crucial for the success of this initiative. A sustained publicity and media campaign that revolves around nation-building and influencing the next generation with discipline and commitment would go a long way in motivating ex-servicemen to become teachers, administrators and leaders.

One of the major recommendations of the Sixth Pay Commission was to facilitate lateral transfer of ex-servicemen at all levels into the paramilitary, Central and state police forces. A similar move into education may be contemplated by the Seventh Pay Commission. Setting up training capsules and laying down accreditation criteria for ex-servicemen is not going to be easy. Two role models of soldier-scholars across the globe assuming positions of great academic responsibility in recent times have been Lt General Zameer Uddin Shah (retired), a former deputy chief of the Indian army, and Admiral James Stavridis of the US navy (retired), a former Supreme Commander of Allied Forces in Europe. While Shah is currently the vice chancellor of the Aligarh Muslim University, Stavridis has recently been appointed dean of the Fletcher School of Diplomacy at Tufts University. Both have demonstrated an engaging style of leadership, with emphasis on academic rigour and development of leadership skills. Let us not squander the opportunity to exploit the diverse potential of retiring men and women in uniform and inculcate in the younger generation the values of hard work, courage and discipline, along with academic excellence.

*(The Writer is a serving airvice
marshal of the IAF. Views are personal)
Courtesy :- The Indian Express*



OUTSOURCING ENVIRONMENT DECISIONS

● MANJU MENON & KANCHI KOHLI

Instead of one independent regulator to protect the environment, India must put in place governmental decision-making located within the public sphere of influence

The idea of a new, independent regulator to protect the environment has been revived by the forest bench of the Supreme Court in the Lafarge mining case. The apex court has ordered by mandamus, a new authority to be set up under Section 3 (3) of the Environment (Protection) Act, 1986 for appraising projects, enforcing conditions and imposing penalties on polluters. This is to be done by March 31, 2014. The Environment Ministry had responded to the court in November 2013 that it had enough means to regulate the environment through existing institutions and procedures. The court was not convinced.

The idea of a new regulator seems to grab eyeballs and attention from all quarters. It also seems to have little resistance in principle for three reasons. Firstly, this government and its Environment Ministry have lost practically all their supporters among citizens due to the manner in which they have dealt with environmental and forest clearances. Any move to take away decision-making powers from them will only improve the situation.

Secondly, the Supreme Court seems to want to shake the status quo by bringing in a

new regulator. Most environmentalists believe that the system deserves to be shaken. They also have great faith in the Supreme Court's wisdom on complex matters of governance. Thirdly, there is a real fear about opening up the laws on grant of clearances even though everyone agrees that we can barely expect good decisions without several amendments to green laws. So creating a new institution is at least doing something.

Institutional structures

For those who have studied the institutional structures of the environment, this announcement is like an advertisement for a new and improved version of a product that has already been around a long time. In fact, in the field of environmental governance, setting up new institutions has been a routine way of taking away attention from the real causes of environmental degradation. The Supreme Court has used this route the most; and its setting up of the Compensatory Afforestation Fund Management and Planning Authority (CAMPA) is an example of institution-building where the core problem remains unabated.



This authority came out of a case that should have ensured that the long-pending objectives of compensatory afforestation are achieved. Instead, what we got was a body that collects and disburses monies earned from granting forest clearances.

The Supreme Court does not clearly state what such a new regulator is meant to achieve that has so far evaded the environmental governance system. Did the court and the amicus not find it fit to assess whether the existing regulatory bodies set up under 3(3) are able to perform at all? From the order, it appears that the only point cited in favour of independent environment institutions doing well is the Arunachal forest protection authority.

There is no study whatsoever to prove that this authority is indeed arriving at better environmental results. This is pretty much the case with some of the better known institutions set up under the same clause of the EP Act; The Biodiversity Authority, the Coastal Zone Management Authorities and the Authority set up to monitor the state of notified Ecologically Sensitive Areas. There aren't any such studies from within the official system to show if they have been useful environmentally.

Working to what end?

A serious assessment of the functioning of these institutions will reveal that they are floundering primarily due to one reason: the laws under which they are set up don't provide any clarity on what is to be achieved in terms of environmental outcomes. What are the outcomes they are to be working towards with all their procedures, their methods and their discussions? Our laws have no end results they are expected to bring about, only procedures. To not have desired outcomes attached to laws is in our view the cause of

environmental degradation and conflict. By desired outcomes of environment laws, we mean not a grant or rejection of clearance but substantive results like reducing environmental conflict, achieving social justice through decisions and ensuring the highest order of environmental compliance.

If routine decisions by all actors in the environment field are not assessed against these outcomes, a new regulator will buckle under pressure from all sides exactly the way all the ones before it have.

Diabolical

The proposals for the new regulator so far have also suggested that they be kept independent so that such buckling under pressure does not occur. This promise of independence seems to create much support for the idea of a new regulator. However, the idea of a regulator outside of the sphere of social and public influence sounds diabolical as then it will serve the interests of only the political class. It, of course, needs no explanation that we cannot create a body that is outside of the influence of the latter. It is far more important that we have decision-making bodies that can be subject to public influence so that their decisions reflect our concerns of being citizens dependent on common resources. Rather than one independent regulator, what we need is a practice of outcome-based governmental decision making located within the public sphere of influence. It needs to be democratic in its form and method rather than leaving decisions to a group of selected experts. Through it, we must achieve substantive justice rather than procedural efficiency.

(Manju Menon is Program Director, Namati-CPR Environment Justice Program. Kanchi Kohli is an independent researcher and writer.)

Courtesy :- The Hindu



PUTTING A FULL STOP TO DEATH SENTENCE

● C. Raj Kumar

**The death penalty cannot be administered in a manner that does
*not attract some form of injustice***

The recent decision of the Supreme Court of India in *Shatrughan Chauhan v. Union of India* is a remarkable example of how innovative judicial craftsmanship can lead to the upholding of constitutional values, while humanising capital punishment. The judgment has arrived just when there was a feeling among a number of human rights lawyers and public interest advocates that the death penalty debate has reached some sort of a saturation point. Prior to this judgment, it was well settled that once the courts have awarded the death sentence in the “rarest of rare” cases, the process surrounding the execution of the sentence is entirely in the domain of the executive, with any reform of this process on humanitarian grounds being left to the wisdom of Parliament. But the status quo has been challenged quite effectively in this landmark judgment.

From 1997 to 2007, just one mercy petition was decided by the Executive, with the fate of the other petitioners left hanging in the balance. From 2007 to 2013, there was a drastic change with more than 40 petitions being decided, out of which more than 20 petitions were rejected. Such inordinate delays in taking a decision relating to the

petition to the President for pardon tantamount to torture and an inhumane form of punishment. As the Supreme Court has observed: “...Keeping a convict in suspense while consideration of his mercy petition by the President for many years is certainly an agony for him/her. It creates adverse physical conditions and psychological stresses on the convict under sentence of death. Indisputably, this Court, while considering the rejection of the clemency petition by the President, under Article 32 read with Article 21 of the Constitution, cannot excuse the agonizing delay caused to the convict only on the basis of the gravity of the crime.” The judgment emphasises the need for accountability in exercising constitutionally enshrined powers in a responsible manner. Although the Court refrained from commenting on instances of arbitrariness in exercise of pardon powers, there was an omnipresent notion of seeking accountability and ensuring responsibility while acting on the basis of the constitutional mandate. In this regard, the Court observed: “...if there is undue, unexplained and inordinate delay in execution due to pendency of mercy petitions or the executive as well as the constitutional authorities have failed to take note of/consider the relevant aspects, this Court is well within



its powers under Article 32 to hear the grievance of the convict and commute the death sentence into life imprisonment on this ground alone...”

Power of pardon

Re-examining the power of pardon through the “fair, just and reasonable” doctrine: There has been a rich array of judgments, which have evolved over the years, on the nature and scope of the powers of pardon by the President of India under Article 72 or the Governor of a State under Article 161 of the Constitution of India. However, this judgment has emphatically observed that the powers that ought to be exercised under these provisions of the Constitution expects and necessitates a fair, just and reasonable process. The Court observed: “It is clear that after the completion of the judicial process, if the convict files a mercy petition to the Governor/President, it is incumbent on the authorities to dispose of the same expeditiously...The procedure prescribed by law, which deprives a person of his life and liberty must be just, fair and reasonable and such procedure mandates humane conditions of detention, preventive or punitive...” This provides guidance to the executive in relation to the exercise of the powers of pardon, and a failure to adhere to this guidance will lead to the decision-making process being subject to judicial review so as to ensure that it was not in any way arbitrary. Eliminating distinction in death penalty cases due to the depravity of the crime: One of the anomalies in the implementation of the death penalty after the judgment of the Supreme Court in Devender Pal Singh Bhullar’s case was about the consideration of the gravity of crime as a factor in deciding whether delay in execution ought to be considered for commutation. The

Court, in Shatrughan Chauhan’s case, clearly observed that considerations such as the gravity of the crime, extraordinary cruelty involved or some disastrous consequences for society caused by the offence are irrelevant after the Constitution Bench decision in Bachan Singh’s case in 1980. The Court observed, “...all death sentences imposed are impliedly the most heinous and barbaric and rarest of its kind. The legal effect of the extraordinary depravity of the offence exhausts itself when the Court sentences the person to death for that offence. Law does not prescribe an additional period of imprisonment in addition to the sentence of death for any such exceptional depravity involved in the offence...we are of the view that unexplained delay is one of the grounds for commutation of sentence of death into life imprisonment in all types of cases including the offences under TADA ...” This is indeed a significant part of the judgment as the brutality of the crime is often put forth as an argument for undermining the constitutionally protected rights of those sentenced to death.

Moratorium

Opportunity for the executive to consider moratorium on death penalty: While the judgment has done what it was expected to do, which is to provide a legal and constitutional basis for infusing fairness into the procedure and process relating to the execution of the death penalty, it remains to be seen what the government can do towards generating a serious debate on the death penalty in light of this judgment.

It is indeed worthy to consider the fact that one of the ways by which countries can respond to the need for greater accountability in the process of both the imposition and execution of the death penalty is to have a



moratorium for a fixed period of time. During this moratorium, a systematic analysis of the death penalty as a form of punishment may be undertaken with the necessary empirical evidence on its implications for crime prevention, deterrence as well as other objectives that are pursued for retaining capital punishment on the statute books. What augurs well for India is that there have been a few State governments, which have passed legislative Assembly resolutions against the imposition of death penalty in relation to a few individuals. While this alone may not be sufficient for assessing the political will to abolish the death penalty, it does provide a basis for seeking a moratorium on carrying out executions for a period of time. This is also in line with the most recent U.N. General Assembly resolution dated December 2012 calling for a moratorium on the death penalty with the ultimate objective of its universal abolition. This was adopted by a record 111 member states, a feat that once again reiterates growing international consensus relating to the abolition of the death penalty.

Towards abolition

Impetus to civil society for seeking the abolition of capital punishment: The most recent judgment of the Supreme Court has reiterated the importance of human rights struggles and the need for pursuing them with determined effort. It also demonstrates the continuing ability of institutions to respond to constitutional issues with a deeper recognition of human rights as the basis for the protection of freedoms. Indian democracy needs to move towards abolishing the death penalty as a form of punishment for all offences. Civilised societies cannot retain the death penalty for any offence and enough

empirical evidence is available from around the world to support the view that the death penalty cannot be administered in a manner that does not attract some form of injustice. Professor Roger Hood of the University of Oxford, in his seminal work entitled: "Towards Global Abolition of the Death Penalty: Progress and Prospects," has observed through his systematic empirical analysis that capital punishment all over the world is in ever rapid retreat. This was further confirmed in the U.N. Secretary General's Report on the Status of Capital Punishment (2010).

The Supreme Court's recent judgment is indeed a first and important step towards humanising the implementation of capital punishment. It creates new forms of the accountability of the executive at all stages of the pardon process, right from the level of the Ministry of Home Affairs all the way up to the office of the President of India. It will no longer be possible for the executive to give excuses for the delay in taking a decision on pardon petitions.

The Court has extensively referred to its expanding and evolving jurisprudence under Article 21, thereby committing itself to the deeper values of constitutionalism embedded in the provisions relating to the fundamental rights enshrined in the Constitution. The values of constitutionalism are not shaped by the exigencies of current situations, political considerations or, for that matter, public perception; they are based upon a deeper commitment to the societal values that are inherent in the Constitution.

*(C. Raj Kumar is Vice-Chancellor,
O.P. Jindal Global University.)*

Courtesy :- The Hindu



Building better universities

• C.RAJ KUMAR



The existing model is based on deep and pervasive distrust among regulators over the possibility of universities doing things on their own, and doing it well. The current framework that require universities to be constantly regulated by laws, rules, regulations, guidelines and policies set by the government and the regulatory bodies have not produced the best results.



The regulatory mechanism for higher education should aim to ensure quality and accountability, rather than leave institutions constrained by rules. As the University Grants Commission (UGC), the apex body regulating higher education in India, marks its 60th anniversary it was inaugurated on December 28, 1953 some introspection is in order. The democratisation of the higher education system and improved and expanded access and opportunities are some of the milestones of the last half-century. However, there are concerns expressed by all stakeholders that the current models of governance of universities do not inspire confidence about an appropriate framework to regulate them. Several issues need to be examined in the context of the existing framework for regulating universities.

The existing model is based on deep and pervasive distrust among regulators over the possibility of universities doing things on their

own, and doing it well. The current framework that require universities to be constantly regulated by laws, rules, regulations, guidelines and policies set by the government and the regulatory bodies have not produced the best results.

There are at least five factors that increasingly govern such regulation. The first relates to Central laws and rules concerning universities and higher education. A second concerns laws and rules of State governments. A third relates to rules, regulations and guidelines formulated by the UGC. A fourth one concerns rules, regulations and guidelines formulated by regulatory bodies such as the Medical Council of India and the Bar Council of India. A fifth concerns orders and directions passed by courts.

If there is one lesson we can learn from the last 60 years of regulating universities, it is the need to reduce the burden. But



The regulatory model of governance needs to focus on empowering public and private universities with a view to achieving excellence. A large number of universities will have to cater to the growing demands and aspirations of Indian youth to be educated and, in that process, employed. However, the regulatory bodies have a critical responsibility to identify a select group of public and private universities to empower them to achieve

regulation in general and the governance of universities in particular have certain important social objectives. There are issues relating to quality and accountability that need to be ensured, and regulatory bodies should assume that role and responsibility. That role needs to significantly change from the existing model to a more progressive approach where universities are allowed to take greater responsibility on their own. There is a need to develop a framework of Earned Autonomy for universities where new forms of regulatory models are created. This model can have a system in which universities could be identified on the basis of indicators and assessment criteria so that a number of them, public and private, could be allowed to function more autonomously than others. This framework should allow upward mobility: universities should be able to fulfil a specific set of goals to develop and

reach different stages of autonomy. There is a case for changing the existing regulatory framework that has a disparaging attitude towards private universities. The model of distinguishing public and private universities in terms of the original source of funding whether it was created by the state or through private initiatives is archaic and has to be reexamined. They have to be assessed on the basis of their contribution, looking at what they are doing as opposed to who created them.

The regulatory model of governance needs to focus on empowering public and private universities with a view to achieving excellence. A large number of universities will have to cater to the growing demands and aspirations of Indian youth to be educated and, in that process, employed. However, the regulatory bodies have a critical responsibility to identify a select group of public and private universities to empower them to achieve global research excellence. These objectives should go hand in hand; there is no need to trump one over the other. There is a need to promote non-profit private university education; philanthropy of private individuals and corporate philanthropy have to be encouraged. The question of accountability is relevant both for public and private Indian universities.

Not one Indian university figures today as one of the top 200 in any of the major rankings of universities in the world. In fact, the debate relating to global rankings of universities in India has matured into a constructive dialogue initiated by the UGC, the Ministry of Human Resource Development, the Government of India and the Planning Commission. Serious, transparent and candid discussions are being held about



rankings and how to improve the quality of universities. There cannot be a better occasion than the 60th year of the UGC for it to work towards a specific set of targeted goals in a time-bound manner that will bring some Indian universities to the top 200 list. It is worth examining the achievements in establishing and developing universities of global excellence in Asian countries, particularly in China, Hong Kong, Japan, Singapore, South Korea, and Taiwan. This will reveal that an extraordinary impetus to seek the transformation of universities has been undertaken in the last two decades for universities in Asia to be among the top 200. India will do well to draw inspiration from some of these experiences from Asian neighbours.

The heart of university education is research and knowledge-creation. But teaching informs research and research contributes to better teaching. India needs a lot more colleges, particularly undergraduate institutions that will fulfil the dreams and aspirations of young India. India's Gross Enrolment Ratio (GER) is a matter of concern and the demographic dividend we hope to achieve will be possible only if we provide opportunities for quality education to young people. The regulatory framework ought to make an important distinction between the role of colleges in promoting access to higher education on the one hand and the larger focus of universities in India, which should be to create knowledge and promote research and scholarship leading to publications. One of the reasons for Indian universities not figuring among the top 200 is that since Independence our focus on expanding the higher education sector to provide access has led to a situation where research and scholarship have been neglected. We need to strike a balance. Over

60 per cent of the criteria used to assess the quality of universities are based on research, publications and citations. We can make amends for this by recognising that different universities are situated to achieve different sets of important educational goals and objectives. Not all universities need to be research-oriented. Nowhere in the world is that the case. A systematic, coherent, and transparent approach is needed to determine the suitability of universities to pursue objectives of excellence.

The Way forward

If we accept the proposed theory of regulation, there should be a greater focus on the establishment of universities and the need to maintain higher standards and sharper scrutiny at the time of establishment. Gradually, the scrutiny of universities before starting programmes or schools should come down, as they are expected to assume greater responsibility in having self-regulating mechanisms and internal quality assurance systems. The role of regulators should change, as the purpose after the establishment of the universities would be to empower and enable them to perform better. But for this to be effective, tools of assessment that are credible and internationally benchmarked should be developed.

The vision, nature, and scope of regulation of universities will determine the ability of higher education institutions to fulfil their goals of academic excellence and research achievements with a view to helping India establish a knowledge society.

(The writer is Vice - Chancellor of O.P. Jindal Global University. Email: vc@jgu.edu.in)

Courtesy :- The Hindu



BEYOND SMALL MERCIES

● JEAN DRÈZE

In the harsh lives of the elderly, the pension is a chance to enjoy small comforts relieving their pain with some medicine, winning the affection of grandchildren with the odd sweet, or simply avoiding hunger.

It was a new experience, last summer, to go from village to village with student volunteers and listen to elderly women and men. Our main purpose was to understand how pension schemes for widows and the elderly worked in different States (Bihar, Chhattisgarh, Himachal Pradesh, Jharkhand, Madhya Pradesh, Maharashtra, Odisha, Rajasthan, Tamil Nadu and Uttar Pradesh to be precise). Testimony after testimony has opened our eyes to the critical importance of old-age pensions as a pillar of social security in rural India.

The first thing that struck me was the immense number of elderly people, and their miserable plight. They escape our notice most of the time, but if we have an eye out for them, they spring up everywhere. They live quiet and unobtrusive lives, some passing time on a broken charpoy, others collecting twigs, limping from one place to another, or simply lying ill in the darkness of a shabby backroom. They rarely complain at least not in public but if you enquire about their well-being, the tales of sorrow are endless.

It is not just in poor households that widows and the elderly have a hard time. Even in relatively well-off families, money is always in short supply, and the comfort of the

elderly often takes the back seat. We met plenty of women and men who lived a life of deprivation even as their adult sons built good houses or rode motorcycles.

Whenever public meetings were called to talk about social security pensions, elderly women and men came out of their houses in large numbers to join the discussion. Those who were not receiving a pension pleaded for help to apply. Pensioners, for their part, complained that the pension amount was far too low. Even so, they clung to their bank or post-office passbooks as they might precious possessions. In their harsh lives, the pension was a chance to enjoy small comforts relieving their pain with some medicine, getting their sandals repaired, winning the affection of their grand-children with the odd sweet, or simply avoiding hunger.

Small leakages, but no big scams

The main insight from the survey was the basic soundness of pension schemes as a tool of social security and economic redistribution. Most of the recipients are, by any standard, deprived people who need social support and indeed have a right to it. Aside from contributing to their economic security, pensions give them some dignity and bargaining power. The administrative costs



are very low. Last but not least, the survey (which included verifying pension records in 160 sample villages) did not find any evidence of major fraud in pension schemes. There are leakages here and there, for instance when post-office employees take a cut to disburse pensions, but nothing like the scams that plague many other forms of government expenditure. And the leakages, such as they are, can be dealt with quite easily.

Having said this, pension schemes for widows and the elderly have five major flaws as things stand: narrow coverage, bureaucratic procedures, low pension amounts, irregular payments, and high collection costs.

To start with, the coverage of pension schemes is too narrow. According to Central guidelines, social security pensions are meant for “below poverty line” (BPL) families; financial support from the Central government is restricted to this category. Some States have launched their own schemes, with their own funds, to expand the coverage of pensions beyond BPL families. But the bulk of pensioners are selected from the BPL category. The unreliable and exclusionary nature of this eligibility criterion is now well understood in other contexts.

In the context of pensions, it is all the more inappropriate, because widows and the elderly are often extremely deprived even in relatively well-off households. BPL targeting should be abolished in favour of a universal or near-universal approach, whereby any widow or elderly person who does not meet well-defined exclusion criteria (such as having a government job) is eligible for a

social security pension.

Second, application procedures tend to be very cumbersome. Numerous supporting documents have to be produced, and it often takes years for applications to wind their way up and down different layers of administration Gram Panchayat, Block, District, State and back. In Latehar district (Jharkhand), we learnt from the Sub-Divisional Magistrate that pension applications were being forwarded to the State government at a snail’s pace simply because he had to sign each application six times. With about 13,000 applications pending, that meant 78,000 signatures, for this purpose alone. He was blindly signing application forms even as he was talking to us, without, for all that, making much of a dent in the backlog.

Third, the amounts of social security pensions are ridiculously low. The Central contribution to old-age pensions has remained at an abysmal Rs. 200 per month since 2006 an insult to the dignity of the elderly. Some States top this up with their own resources, but even the topped-up amounts are measly, except in a few States like Tamil Nadu where the standard pension amount is now Rs. 1,000 per month. Pension amounts should be increased without delay and indexed to the price level.

Fourth, pension payments are highly irregular in most States. Often, pensioners have to wait for their pension for months, without having any idea as to when the next payment will materialise. This defeats the purpose of old-age pensions, which is to bring some security in people’s lives. More than ten years have passed since the Supreme Court ordered State governments



to ensure that social security pensions are promptly paid by the 7th of each month, but few States have acted on this.

Fifth, even when payments are relatively regular, collecting them is often costly and tedious for old people with little mobility, education and power. Going to the nearest bank and queuing up there for hours can be an absolute ordeal for them.

Post offices are closer, but the convenience comes at a price corrupt post-office employees often expect an inducement. Alternative options such as postal orders, business correspondents and cash payments pose their own problems. The Central government's odd insistence on fast-tracking the transition to "UID-enabled" payments of social security pensions (one of the least appropriate applications of this problematic technology) is likely to be very disruptive "UID-disabled" may well turn out to be a more accurate term in this case.

Signs of change

All these problems are easy to fix. The main reason why it is not happening is that the people concerned count for so little. But this is changing: widows and the elderly have started agitating for their rights, with a little help from associations such as Ekal Nari Shakti Sangathan and Pension Parishad. Under public pressure or for other reasons, many States have started improving and expanding their pension schemes Odisha, Tamil Nadu, Rajasthan, among others. Even Bihar and Jharkhand, the incorrigible laggards in such matters, are developing a serious interest in pension schemes.

Odisha, no paragon of good governance in general, presents an interesting case of a State which has put in sustained effort to strengthen pension schemes. Eligibility conditions have been relaxed and the coverage of pensions has been extended well beyond the ambit of Central guidelines. The lists of pension recipients are updated regularly and posted on the internet. Pensioners have well-designed and well-maintained passbooks with details of pension payments. Last but not least, pensions are promptly paid in cash at the Gram Panchayat office on the 15th of each month even on August 15. This arrangement, very convenient for pensioners, is strictly enforced and appears to work very well.

The Central government, for its part, seems unable to get its act together on this issue. The need to put social security pensions on a sounder footing is well accepted in principle, and useful recommendations for this purpose have been made by an expert committee. However, little has been done to implement these recommendations not even raising the Central contribution to old-age pensions above the paltry Rs. 200 per month. The "savage cuts" (as Union Minister Jairam Ramesh called them) in social expenditure sought to be imposed by the Finance Ministry are not going to help matters. The axe of fiscal austerity weighs most heavily on the poor and powerless, including destitute women and men who are expected to get by with Rs. 200 per month even as prices go through the roof.

(The author is Visiting Professor at the Department of Economics, Allahabad University)

Courtesy :- The Hindu



FIGHTING SEX SELECTION

• Lavanya Regunathan Fischer
& Devadatt Kamat

The debate on the issue has been a fierce and unending. One argument that supporters of the law banning abortions based on sex cite is the value of protecting a child and the fabric of society in general. But would the fabric of a society that has traditionally witnessed high incidences of both infanticide and foeticide be worth saving?

In the last few years, crimes like molestation, harassment and rape have been on the rise, so has the awareness about them and attempts to address them at the highest quarters. The issue of sexual assault against women has occupied the front page of newspapers. It has brought people out on the streets in protest and several significant personalities, leading media and judicial institutions, who were accused of perpetrating sexual harassment and assault, have had to face the consequences of their actions. Women are not just reporting such incidents, they are also launching struggles for better laws and more effective law enforcement.

But one concern that always threatens to fall off the map is that of sex selective abortions and this despite the fact that India today is battling the effects of a skewed sex ratio. Unfortunately, however, the practices

of gender discrimination in Indian society, which are the primary reason for this tragic scenario, continues unabated. Now, more than ever, there is an urgent need to change attitudes of son-preference and daughter dis-preference.

The UNFPA 2012 report on sex imbalances at birth stated that the world male-to-female ratio is 101 males to 100 females. In India, "the most affected country in South Asia". the ratio is 110 male births for 100 female births. In 2011, Prime Minister Manmohan Singh even described the situations as a "National shame" and called for a "crusade" to end sex selective abortions.

Most countries have outlawed abortions performed on the basis of the child's sex. In India, the government passed the Pre-Conception and Pre Natal Diagnostic Techniques (Prohibition of sex selection) Act in 1994 banning such abortions, but its



The Supreme Court of India has been seized of the matter for a long while now, with the issue coming up before it several times over the last decade. Two cases filed in 2001 and 2003 - both recorded as the Centre for Enquiry into Health & Allied Themes (CEHAT) vs Union of India - raised the issue of the lack of will of the state governments in enforcing the 1994 legislation and also the general ennui in attacking the basis that allows this crime to continue unhindered. In response the Supreme Court passed directions, which led to setting up of state-run monitoring bodies.



implementation was never taken seriously for nearly a decade. In 2003, the act was amended to include pre-conception technologies as well. It also mandated a proper system to regulation. Implementation, however, continues to be poor. According to UNICEF records, 22 out of 35 states in India have not even reported incidents of such abortions.

There can, of course, be no disputing a woman's right to abortion. But the issue here is whether sex selective abortion is just

another symptom of the objectifications of women. One has to also consider whether the objective of securing the safety of women can be achieved by merely criminalising such abortions. Could this not, for instance, leave the door wide open for practices that would eventually amount to killing the child after she takes birth?

The debate on the issue has been a fierce and unending. One argument that supporters of the law banning abortions based on sex cite is the value of protecting a child and the fabric of society in general. But would the fabric of a society that has traditionally witnessed high incidences of both infanticide and foeticide be worth saving? Another line of thought calls for the pregnant woman to have more agency in taking a decision on whether to go in for abortion or not. Right now we know that a lot of family pressure is brought to bear on her to take such a decision, but if she is allowed to exercise her own mind would she resort to such a measure?

The Supreme Court of India has been seized of the matter for a long while now, with the issue coming up before it several times over the last decade. Two cases filed in 2001 and 2003 - both recorded as the Centre for Enquiry into Health & Allied Themes (CEHAT) vs Union of India - raised the issue of the lack of will of the state governments in enforcing the 1994 legislation and also the general ennui in attacking the basis that allows this crime to continue unhindered. In response the Supreme Court passed directions, which led to setting up of state-run monitoring bodies. However, in early 2013, it was forced to acknowledge the ineffectiveness of that measure. In the case



reported as Voluntary Health Association of Punjab vs Union of India, the Supreme Court unambiguously stated that the states were not doing enough to ensure the eradication of the biases against women. It took note of the ever increasing methods of testing and the fact that the perpetrators of this crime invariably belonged to the educated middle class. It even commented on the misuse of the Act in cases from 2001 onwards. The apex court's angst was visible in its order which stated that a society that does not respect its women can not be treated as civilised.

To quote the judges, "It does not require Solomon's wisdom to realise that there has not yet been effective implementation of the provisions of the Act, for there has not only been total lethargy and laxity but also failure on the part of the authorities to give accent on social cultural, psychological and legal awareness that a female foetus is not to be destroyed for many a reason apart from command of the law. Needless to emphasise, there has to be awareness of the legal provisions and the consequences that have been provided for violation of the Pre-Conception and Pre-Natal Diagnostic Techniques (Prohibition on Sex Selection) Act, 1994 (for brevity "The Act") but, a significant one, the awareness in other spheres are absolutely necessitous for concretising the purposes of the Act."

The apex court directions included strict oversight of clinics that have the infrastructure to provide sex determination tests at the district level as well as the state level. But, as it admitted, the will and desire for change needed a larger scope than the mere implementation of an Act.



Census 2011 indicated that only 914.23 girls were born for every 1,000 boys in the age group 06 years, compared with 927.31 for every 1,000 boys in the 2001 Census. It recorded the worst child sex ratio since Independence. If Census 2021 is not to record a still steeper decline, the observation of the apex court that the will and desire for change needed a larger scope than the mere implementation of an Act.



Census 2011 indicated that only 914.23 girls were born for every 1,000 boys in the age group 06 years, compared with 927.31 for every 1,000 boys in the 2001 Census. It recorded the worst child sex ratio since Independence. If Census 2021 is not to record a still steeper decline, the observation of the apex court that the will and desire for change needed a larger scope than the mere implementation of an Act. has to be internalised by society at every level, from the individual to the family and community. Will 2014 see the beginning of such change?

*Courtesy : The Hitavada
(Women's Feature Service)*



DOCTOR - PATIENT RELATIONS

● By Jyotshna Pandit

Doctor-patient relationship is a special and delicately balanced bond that cannot be measured in commercial terms. It is a relationship of trust and faith that both have to respect without the interference of Acts of Parliament or the verdicts of law Courts.

The Supreme Court has left the medical fraternity in India shell-shocked. In a recent ground-breaking judgment, it awarded a compensation of Rs. 11 crore to an American doctor of Indian origin, whose wife had died due to alleged medical negligence in a private hospital in Kolkata fifteen years ago.

The compensation amount is the highest ever in this country's history. This judgment has sparked intense debate applauding and criticising it. Some feel that it is a stern warning to doctors and hospitals to exercise greater care while treating patients. Others fear inflated medical bills as a result of his judgment. When doctors feel threatened with such colossal amounts of compensation, they may insure themselves heavily and also pass that burden on to their patients. Another concern is that Indian health care may go the American way of "defensive medicine", wherein hospitals and doctors are more preoccupied with securing their own safety rather than their patients. These are complex issues that need serious consideration. Ever since the Consumer Protection Act was passed in 1986, the doctor-patient relationship has come under scrutiny in this

country. In converted the whole process of sickness and proposition, where a patient who pays money for medical care has every right to haul the caregiver into Courts of law to be punished for negligence, although patients have hardly taken this step for fear of losing the case along with the medical care itself. The costs and travails of the legal procedure itself have also been great deterrents. Besides, the Act did not take into account the doctor-patient relationship which is a special and delicately balanced bond that cannot be measured in commercial terms. It is a relationship without the interference of Acts of Parliament or the verdicts of law Courts.

Poor patients in State hospitals, who are the worst victims of medical negligence, have neither the clout nor the means to hire lawyers and move Courts as Dr. Saha did for fifteen years. Not only did he travel back and forth between two countries to collect medical data and legal opinions from the best lawyers, he even assembled an international panel of medical experts to study the case and to provide valuable support for his legal battle. How many affected patients in India have such medical and legal strength? Even



if they did try to seek justice for medical lapses, they would be fighting losing battles, since the final arbiter in the Consumer Protection Act is the Medical Council of India where other doctors will not let their own fraternity down. So, the Supreme Court's "hope and trust that this decision will act as a deterrent and a reminder to doctors who do not take their responsibility seriously" sounds too facile. In its generosity and concern, the apex court decreed that the award in the present case should take into consideration the petitioner's monetary losses, including his medical, legal and travel expenses, with 6 per cent annual interest added to them.

The court has also not questioned why Dr. Saha-a doctor himself agreed to the treatment in the first place, when it was done with his knowledge and compliance. If the "guilty" doctors used a particular drug in a particular dosage, it was their considered opinion that it was the best line of treatment for the victim of a rare, life-threatening disease, also known for its high mortality rate. For from being "negligence", it may have been an error in judgement to which the too sadly contributed. Yet, the highest Court in the land thought fit to punish those doctors when tens of thousands of blatant medical lapses go unrecognised. Doctors face innumerable problems while treating patients. If they order tests and refer patients to specialists in the field, a nexus is suspected between doctors/ diagnostic centres/specialists. If they do not resort to these measures, it is termed "negligence". A doctor is walking a slippery path all the time. There may be cases when the treatment becomes an act of judgment where doctors themselves tend to differ. For

example, one doctor may prefer not to treat a terminal case of cancer in order to avoid further pain to the patient, while another may suggest aggressive remedies for the same. A third may even recommend palliative care. In the present case, where the patient was suffering from a obviously incurable condition, the doctors administered steroids as a last resort to save her. How did the highest Court in the land consider this to be "medical negligence?" However, it must be added that facilities in hospitals and attention by doctors do get diluted in a scenario where the sheer numbers of patients seeking relief is mind boggling. Public hospitals with their scarce medical resources and poor infrastructure have become torture chambers for the teeming millions who go to them for lack of alternate solutions. Private corporate hospitals which have been established as business conglomerates are patently commercial ventures. Some are notorious for exploitation and profiteering. Rich patients who visit these mega hospitals have as little access to establishing a close and confident relationship with their doctors as the poor patients in Government hospitals. While sick persons are sadly neglected in one, their treatment is reduced to "customer care" in the other. The Hippocratic Oath is relegated to the back burner in both cases. The much touted Consumer Protection Act becomes meaningless under these circumstances. If the latest Supreme Court ruling is meant to remind doctors and hospitals that they will be punished appropriately if they neglect their patients, then legal procedures must be made easy and all cases of medical negligence must be treated with the same consideration.

(Courtesy :- The Hitavada)



Education should be a priority in 2014

● Meeta W Sengupta

A country in search of growth must invest in education. However, Government investments in this field have not influenced voting patterns. This needs to change.

It is a university acknowledge truth that a country in search of growth must invest in education. It is also the year of the elections, where policy bends to politics. Educationists have to acknowledge, in the recent past, investments in educations have not influences voting patterns. This sounds wrong when it is known that better education levels lead to prosperity and health. Why would prosperity not be on the voter's agenda? Education is both personal and societal. Decisions made by elected policy makers affect the persent and future of a entire generation.

Take the case of the Right of Children to Fee and Compulsory Education Act, 2009, which starts with the goal of ensuring every child in India gets educated upto the age of 14. This can be implemented in various ways depending upon the ideological leanings of the MLAs. In some countries universal private education has meant a wholly publicly funded school system. Others have chosen to introduce a range of schooling systems that he a variety of students. The RTE Act in India takes the view that private

school must share a part of the public burden, like it or not. Pressure is put on the smallest of these private school providers, many of them serving poor communities with nominal fees. They do not have the capacity to provide what is demanded of them by the act. Many are in danger of closing down. Each of the parents who send their children to private school in their area. These Government schools are presumably as well equipped as their private counterparts are expected to be, certainly have better quality teachers and offer uniforms and midday meals as incentives. Yet, they are not the first choice for most parents. Either we assume that parents do not know how to choose which would be both patronising and wrong. Or we acknowledge that there is value in affordable private schooling and find ways to help it survive.

These are issues that affect the future of our children and as India votes, it makes choices about the direction it wants. Currently, while it is acknowledged that the private sector is a significant player in education delivery, it is a grudging



acknowledgement. The assumption being made here is that profits will be at the cost of better education to the students or that Government owned education institutions will be true to their stated purpose. When it comes to the ballot, this should matter. Some Governments will allow opportunities to bloom, while others will pursue traditional proven paths. Education policy will be determined by politics.

What are the top three decisions for politicians and policy makers in education? First, capacity building. While the previous few years have been about increasing physical capacity in education soft infrastructure is lagging. Teachers, faculty in higher education, leaders, researchers etc are in short supply. The constraint is both due to quality as well as structural failures.

Second, rethinking massification. The current policies aim at very high gross enrolment ratios in higher education. While this is a good driver of the pipeline, it is also true that the upstream leaks in the pipeline are huge, and the downstream opportunities (jobs) for graduates are very few.

Third, rethinking governance. While it is believed that education is a public good, it may be wise to rethink how the responsibility of this should be discharged. Does the Government have to be in the business of supplying education or should it be the mentor and monitor?

Policymakers need to rethink these questions in this new year when balancing political imperatives with long term goals.

(Courtesy :- The Pioneer)

- “A real leader faces the music, even when he doesn’t like the tune.”

– **Anonymous**

- “All Leadership is influence.”

– **John C. Maxwell**

- “Do not go where the path may lead, go instead where there is no path and leave a trail.”

– **Ralph Waldo Emerson**



Building our natural consciousness

● Perna Singh Bindra

Environmental issues, which touch and impact every aspect of our lives, have failed to stir the public conscience, impact mainstream concerns and inspire action. A healthy environment is our collective responsibility.

The resolve for this column to have an optimistic spin - given that it is delivered to you on New Year's day took a beating with the eruption of what can only be called an orchestrated campaign to dilute and dismantle green regulatory norms. The tone and purport of the debate if it can be termed so since it is largely one sided of green concerns and laws being a key hurdle in India's economic growth, is frightening.

Hard data has established that the rate of green clearances is at an unprecedented high, and accelerating. But it merits repetition. In the past nine years, six lakh hectares of forests have been cleared (over a third of these for mining), with the diversion of only 14,000 ha rejected. Forests cleared amounted to the combined areas of Delhi, Kolkata, Mumbai, Chennai and Bangalore. An analysis by the Centre for Science and Environment revealed that till April this year, the Union Ministry of Environment and Forests rate of granting clearances for forest land diversion increased by 42 per cent, while that of rejecting projects nosedived to

a mere 3.5 per cent. In other words, less than four projects out of every 100 proposed have been rejected. In the first three months of this year, the Environment and Forests Ministry's Forest Advisory Committee allowed the diversion of about 15,000 ha of forest land, just a little less than the total forest land diverted in 2012.

Clearances given exceed targets in all key sectors - power, coal, steel, cement, etc. For example, the Ministry granted environmental clearances to 181 coal mines with a combined capacity of 583 million tonnes per annum and forest clearances to 113 mines giving away 26,000 ha of forest land for the 11th Plan period till April 2011. This is expected to double capacity. Between 2006 and August 2011, a total of 2,10,000 MW of thermal power capacity were cleared. That's 40 per cent in excess of what has been proposed till 2017, but only 32,394 MW of the power capacity was actually built in the past five years.

Is environment really a 'hurdle' causing slow growth, or does the problem lie



elsewhere? How do you explain the clamour for clearances, when current capacities of coal and power lie unutilised? Why is there a rush to invest in new projects, when the shortfall for investment in electricity transmission (India loses nearly 40 per cent electricity to inefficient transmission) is ` 4,00,000 crores?

Rules and policies safeguarding environment forests coasts and wildlife have been diluted. The Coastal Regulation Zone rules were weakened and a notification which granted wildlife scrutiny to diversions for forests in elephant reserves and important wildlife corridors was nullified. Crucial wildlife concerns were disregarded a case in point being Saranda the world's largest sal forest and prime elephant habitat, which was opened up for mining. Also, the allowing of barrages and further withdrawal of water from the Chambal river is a move which could be fatal to the critically endangered gharial.

Even when the Ministry rejected no less than four times mining in the Mahan coalfields in Madhya Pradesh, which will rip apart rich, pristine forest with very high biodiversity values, the rejection was overruled even in the face of stiff resistance from local communities. It is not India Inc which has been thwarted, it is the environment that is being compromised. And at what cost?

The dawn of new year is also a time for reflection. My major worry in this shrill cacophony of 'silly environment regulations and sundry animal's blocking growth, is not the apathy of the Government, but of the people. We appear largely unconcerned, or is it convenient ignorance of the fact the foundation of sustainable economic growth and a healthy population is healthy



The dawn of a new year is also a time for reflection. My major worry in this shrill cacophony of 'silly environment regulations and sundry animals' blocking growth, is not the apathy of the Government, but of the people. It is convenient ignorance of the fact that the foundation of sustainable economic growth and a healthy population is a healthy environment.



environment. India is currently an environment basket case. Water in our rivers is not fit for bathing leave alone drinking Even the holiest of them all, Ganga, is burdened by dams, sewage, polluting industries, toxins, effluents and power plants, to the extent that it is nothing but a filthy sewer. So bad is our air quality, that even breathing is difficult. According to Global Burden of Disease, 2013, outdoor air pollution caused 6.2 premature deaths in India in 2010, a six-fold jump from the one lakh deaths in 2000. The mining and industrial towns of Chandrapur, Vapi, Ludhiana, Kanpur are rated as



Forests are critical not just for sustained growth but also to protect our basic life support systems clean air, water, soil fertility and climate moderation. They influence the monsoons, nourish and nurture rivers and soils, absorb and sequester carbon, Up to a fifth of global greenhouse gas emissions come from deforestation.



amongst the most polluted towns in the world and are today living hellholes, ravaged by diseases like lung and skin infections, tuberculosis and cancer.

Forests are critical not just for sustained growth but also to protect our basic life support systems clean air, water, soil fertility and climate moderation. They influence the monsoons, nourish and nurture rivers and soils, absorb and sequester carbon, Up to a fifth of global greenhouse gas emissions come from deforestation. Keystone wildlife species are indicators of a healthy ecosystem Elephants and tigers denote a healthy forest, dolphins and gharials will only be found in clean, flowing rivers, bustards denote healthy grasslands while waterfowl indicate healthy wetlands.

Environmental and forest degradation, estimates the World Bank, is costing India around 5.7 per cent of its GDP annually. The math is frightening. Can we afford to ignore environmental consequences and not factor them into the development agenda? Can we afford to dismiss them as irritants, which we

will deal with later? Resources are finite, extinction is forever, and some ' 39,000 crore later, the Ganga is still as filthy.

Yet, environment issues, which touch and impact every aspect of our lives, have failed to stir the conscience, enter mainstream concern and inspire action. India Inc may run campaigns to save tigers, plant tree, promote solar lighting, and we may carry jute bags or sign petitions to save dolphins and tigers. It makes good CSR, and makes us feel good, but it is simply not enough. We need to empower out selves with knowledge, understand the environmental, social and biodiversity costs of an unplanned development agenda. What is needed is to take substantial steps to ensure that businesses do not pollute our rivers and air, follow the law of the land and factor in environmental concerns when planning and developing their projects so that impacts on forests and wildlife are minimal and addressed.

This is not the task of the environmentalist alone, a healthy environment is our collective responsibility. It's election time. Have we, then, questioned the green manifestos of candidates. and political parties? No, environment is a non - issue in the election. In fact, of late it has become the scapegoat which bears the brunt for everything from slow growth to an electoral drubbing. If anything promises are being made to dismantle green regulations intended to safeguard the environment - and ourselves.

New year is also a time for beginnings and I sign off with hope that this new year will usher in an era of environment consciousness.

(Courtesy :- The Pioneer)



Curbing Medical Negligence?

• Dr. S Saraswathi

The cost of treatment at private hospitals is beyond the reach of the poor and lower middle classes. These classes depend on the public sector health providers which are developing structural and functional deficiencies day-by-day which result in medical negligence and encourage malpractices. The blame, therefore, has to be shared between the institutions and the medical personnel. However, a note of caution is needed in investigating and penalizing the parties in cases of medical deficiencies.

The medical fraternity in India must be in a state of shock. The recent Supreme Court verdict asking a Kolkata-based hospital and three doctors to pay a hefty amount as compensation for medical negligence in a 15-years-old case, may well be a trend-setter, much to the chagrin of the both hospitals and doctors. The apex court raised the compensation of Rs 1.73 crore granted earlier by the National Consumer Disputes Redressal Commission to Rs. 5.96 crore plus interest for nearly 15 years, taking the compensation to over Rs. 6 crore! An amount far exceeding compensation awarded so far for medical negligence in the country.

The case pertained to the death of a young woman during treatment in a hospital way back in 1998 due to medical negligence. The compensation is to be paid to the husband, who took the matter to the court. The victim, the plaintiff, and the defendants in this case belong to the field of medicine.

Indeed, it is a historic judgement hitherto unheard of in India although cases of medical negligence and malpractices taken to courts are not uncommon. The penalty imposed is justified by the court as a “deterrent and a reminder to those doctors, hospitals and nursing homes who do not take their responsibility seriously”.

The compensation amount is said to have been calculated taking into account the loss of income of the deceased, who was a child psychologist practicing in the US, loss of consortium pain and suffering and the cost of litigation.

The judgement emphasizes the responsibility of the hospital to provide efficient service as an institution from which people expect medical service. Hospitals are expected to provide service. Hospitals are expected to provide service through the doctors they employ whatever be the nature of their employment - full-time paid, or on contract. Additionally the doctors are



The judgement has also noted that it is the doctors duty to take the required precautions to prevent spread of infections from patients. More so. as hospitals should not and cannot become a place for spreading infections.



individually responsible for the treatment given and for maintaining the standards of medical care expected in the fraternity. Medical negligence may be shown by a wilfully wrong act or omission, or by providing a treatment below the standard practice.

The judgement has also noted that it is the doctors duty to take the required precautions to prevent spread of infections from patients. More so. as hospitals should not and cannot become a place for spreading infections.

Undeniably, this incident is a wake-up call to hospitals and medical personnel. It is a timely attack on the state of hospitals in general lack of proficiency and commitment of many doctors, the behaviour of para-medical personnel in hospitals and nursing

homes and the state of pharmaceutical business. The general public to whom the medical industry as a whole caters has plenty of grievances against it in every aspect. Complaints are voiced, response is nil and the public helpless.

This judgment has altered the guarded position to doctors implied in a 2005 decision of the Supreme Court that they cannot be prosecuted as criminal offenders unless there is compelling evidence. Recall, that medicare was brought under the Consumer Protection Act of 1986 in 1995 by the Supreme Court. Not only the course of the treatment, but also the services rendered by way of diagnosis - both medicinal and surgical - were included as "service" and brought under the protection of the Act. There was a fear then that judicial activism in this matter could lead to harassment of medical professionals, including the honest and committed among them.

However, the trend in health services points to degeneration in many respects despite tremendous progress in diagnostic techniques, treatment methods and medicines. Medical science has progressed but not the human qualities of those involved in the application of this science in different capacities. On the contrary, the more the technical advancement in the health sector, the greater the scope for malpractices and negligence!

Commercialization of the medical profession is a term increasingly used to refer to the rot that eats into the system. It is said to be the root cause of all evils in the system and its operators. It takes medical treatment and medicines beyond the reach of the middle classes not to speak of the poor. Commercialization is a cause of several



malpractices and medical practice in past few years has degenerated into a lucrative industry.

Medical malpractice refers to “improper, unskilled, or negligent treatment of a patient by as physician, dentist, nurse, pharmacist, or other healthcare professional”. It comes under Tort Law - a field rather weak in India. In recent years only, it has become a serious social issue in our country. Medical negligence is found to be the third major cause of death in the US just below heart and cancer. Legal disputes on this account were found increasing so enormously that in 2003, the American President approved a legislation to put a ceiling of \$ 250,000 on non-mone-tary compensation.

The situation in India is far different as the victims and their relatives are mostly not in a position to fight legal battles. They have neither the time nor resources. They have

neither the time nor resources to seek legal remedies. In most cases, knowledge and information needed for asserting one’s rights are also sadly missing. They accept results of treatment as divinely ordained. The doctor and the hospital are but messengers of God, executing the predetermined fate. Despite such indifference ingrained in the minds of the average Indians, some amount of awareness about medical negligence and exploitation is spreading fact today. Hopefully, the recent judgment is likely to encourage the trend. More so, as medical negligence and malpractice take various forms besides faulty diagnosis and treatment. Forcing a product, a procedure, or investigations for monetary gain are also forms of malpractices. Clinics and laboratories conducting various tests have increased and are also enjoying a flourishing business.

(Courtesy :- Chronicle)

- “Using no way as a way, using no limitation as limitation.”

– **Bruce Lee**

- “Action will remove the doubt that theory cannot solve.”

– **Petryl Hsieh**

- “It’s kind of fun to do the impossible.”

– **Walt Disney**



Teachers should be in tune with times

● Meeta W Sengupta

The technology and teacher inter-connectivity boom in India is still at a nascent stage. It needs to spread for results to be evident

The tide has silently risen and teachers are better off because they join. I speak of the conversations between teachers across schools, networks and geographies. Teachers are acknowledged to be at the centre of improvements in education they are the single factor that determines the quality of teaching and learning that happens in a classroom. While much of these have been measured by student achievement, a teacher's contribution is a lot more in terms of the values, the team skills and the emotional support that they offer to their classroom. Teaching is an act of transformation it takes a lot out of the teacher and they too need validation and renewal.

A decade ago, the only place where teachers gathered would be in teacher-training sessions organised by their authority or in consultation meetings where only the senior teachers had access. Training sessions were designed to be top down, and were often honoured in the breach rather than in actual renewal. Teacher training often became just about compliance. The past year has seen significant changes because of sterling work done by many to address the systemic issues that teachers face on a day to day basis. The first being isolation.

It is not only single-teacher schools in far-flung rural areas where teachers feel

isolated. This can happen in a large, populated urban school too. Teachers who wish to innovate in their classroom, or have an idea that they think will work for a school, or maybe an interesting activity or lesson plan do not always find support within their schools. Every teacher has much to share based on their experiences and efforts. But for such sharing to happen teacher communities needed to be enabled both within and outside schools. One of the positives about team-teaching is that all teachers share materials and plans, which makes them effective support systems for each other. The downside is that it takes an initial investment of time from the teachers who will see benefits only once they make a success of it. Team-teaching has been seen to be effective only in schools that are technology enabled and where the teachers themselves naturally integrate technology with their teaching preparation and practice.

It is this technology boom that has enabled teachers across the world to connect with, teach one another and share what they can. This change has been slow in coming to India many of the schools here barely see electricity, let alone have computers. Those that do find the journey as digital immigrants varied the schools that have been able to enable open access with well- designed



content have benefited the most, other schools find 'computers' to be a chore since it is seen as a separate subject and task. Teachers lead the change and those who have had support and are able to adopt it for use as seamlessly as a textbook or a blackboard are those who have more to share.

The technology and teacher inter-connectivity boom in India is nascent. Some of it is via Government networks such as those that link universities across the country. Many of these are enabled via email groups,

Facebook and other social media. Large newspapers with significant education supplements have invested in developing communities of teachers across the country, as have social entrepreneurs who help create social learning platforms for teachers to share materials within school networks. The most ambitious of these is the open education resources programme that encourages teachers to share their teaching resources with others, for free, and to access and use other teachers' shared resources.

(Courtesy :- *The Pioneer*)

- "We are what we repeatedly do. Excellence, then, is not an act, but a habit."

– **Aristotle**

- "The gem cannot be polished without friction, nor man perfected without trials."

– **Chinese Proverb**

- "Everyone who got where he is has had to begin where he was."

– **Robert Louis Stevenson**

- "Fall seven times, Stand up eight."

– **Japanese Proverb**

- "The path to success is to take massive, determined action."

– **Tony Robbins**



Fulfilling the promise of potable water

● Kota Sriraj



Tremendous support is available from international aid organizations and NGO on effective water management practices. The Government can access this to evolve a customized solution that can eventually benefit the people



T of the promise of 700 liters clean water per day per house in Delhi by debutant Aam Aadmi Party has rightly ensured a raging debate on the practicality of the assurance. As electoral commitments collide with reality, the dimensions of the issue become clear. Delhi has approximately 11 million people. Assuming four persons per family and rs. 5 to produce a kilolitre of water, it would require Rs. 94.5 lakh per day or Rs. 340 crore for a year to deliver on the promise.

But financial repercussions aside, the environmental implications are of far greater concern as scarce water resources coupled with inadequate supply infrastructure and inequitable water distribution present a grim picture. For instance, Delhi's water supply is highly inequitable with New Delhi Municipal Corporation areas getting a major portion whereas several parts of the city have no water connection and no increase in supply is expected in the next few years. Add to this situation, much of the pipeline infrastructure is old, collapsing and need to be changed. The same challenge exists across the country.

Populist promises and commitments that have a bearing on natural resources need to be qualified by a genuine concern for the environment. Political parties should be the first to display this concern and take steps to ensure that the environment is not compromised. Today, not a single city in India has 24 hour water supply. The authorities backed by political will should concentrate on planning of water supply as well. Water sourced from a longer distance tends to increase cost of supply. Additionally, ageing infrastructure in the form of leaking pipelines mean high distribution losses and less water to supply at the end of pipeline, which translates to precious water at high cost. The upshot of inefficient supply ensures that the cities are not able to recover costs of supply that in sewage infrastructure.

India's population, rushing towards a staggering 1.6 billion by 2050 overtaking even China, is certain to put enormous strain and pressure on water resources. A rapidly growing economy and a large agricultural sector mean an unimaginable stretch of India's water resources and supply. A lack of



cohesive planning and mismanagement of water resources means that the available supply of water is rapidly dwindling. The collateral damage due to this state of affairs can be resource short-age driven conflicts and hydel energy production.

A World Bank report title, 'India's Water Economy: Bracing for a Turbulent Future' states that, "Unless water management practices are changed - and changed soon - India will face a severe water crisis within the next two decades and will neither have the cash to build new infrastructure nor the water needed by its growing economy and rising population."

The Government's efforts should move beyond traditional resources conservation and maximization efforts, such as rain water harvesting, to more scientific and in-depth measures that incorporates Best Management Practices for urban water resource management. These BMPs can aid in alleviating the plight of water stresses cities that are witnessing rapidly disappearing natural water bodies and an unsafe standard of available water.

The BMPs can help evolve effective planning, management and governance of available water resources and therefore, avoid epic water resource scarcity in future. An intelligent combination of investment and technology can prove critical to sustainable water resource availability over a long term. Further more, the interconnected nature of water supply, sewage and sanitation cannot be ignored Water recycling is inherent to improving water availability in an urban scenario.

As Governments change, the newly elected representatives have a rare opportunity to change the manner in which



Globally tremendous support is available from international aid organizations and NGOs on effective water management practices. A plethora of path breaking examples have been set by many countries in achieving commendable water resource sustainability.



cities are run and resources used. Effective planning and execution may deliver even the most ambitious of goals. For successful water management and planning the aim should be to ensure better water service to citizens with an optimal and effective use of available water supply with less operations cost that does not compromise on water quality.

Globally tremendous support is available from international aid organizations and NGOs on effective water management practices. A plethora of path breaking examples have been set by many countries in achieving commendable water resource sustainability.

The Government can access these resources and evolve a customized solution for specific needs of the Indian scenario that can eventually benefits the people. In the future, an increasingly aware electorate will enthusiastically choose Governments that not only preserve the environment but also deliver pioneering solutions to everyday problems.

(Courtesy :- The Pioneer)



BluePrint for educated India

• J S Rajput

Children will get the equality of opportunity only when Government educational institutions in rural India and small towns provide affordable access to higher and professional education for the willing and the deserving

Mahatma Gandhi had anticipated that chaos would be inflicted on the people even after independence. These find a mention in a letter in letter he wrote in 1922: "We should remember that immediately on the attainment of freedom our people are not going to secure happiness. As we become independent, all the defects of the system of elections, injustice, the tyranny of the richer classes as also the burden of running administration are bound to come upon us." All the four aspects he mentioned could become the major curriculum of institutions of man management and public administration. Mahatma Gandhi had also suggested a solution: "But there is hope, if education spreads throughout the country. From that people would develop from their childhood qualities of pure conduct, God fearing, love. Swaraj would give us happiness only when we attain success in the task." Sadly enough, in education the large proportion of the weaker sections of the society, including the minorities (read Muslims); have only a nominal presence which provides little hope for a better future.

If it were not so, education would not have become the source of widening socio-cultural

and the consequential economic gap in the country. Around 30 per cent children now go to private schools that are, ironically, known as 'public schools'. The remaining 70 per cent depend on Government schools. The official enrolment figures of over 96 per cent children in the age group of six-to-14 years indicate a commendable achievement. It, however, deserves to be viewed with a corresponding query: Are enrolment figures the only measure of progress in implementing the much-hyped Right to Free and Compulsory Education Act?

Since 2005 onwards, the voluntary organisation 'Pratham' brings out the Annual School Education Report. The latest ASER indicates an increase in the proportion of schools with useable toilets from 47.2 per cent in 2010 to 62.6 per cent in 2013. If this was to be the pace of progress, what was the need for the RTE Act? How many more decades it would take to provide drinking water, toilets, teachers and books to all the children in the Government schools? There is no justification whatsoever for policymakers and implementers to deprive even a single child of the country on the counts of any of his/her inherent human rights.



If around 40 per cent schools do not provide a useable toilet to girl child, how could anyone justify this deplorable inaction and lethargy? That most of the children are discriminated also emerges very prominently from the analysis of learner attainments. Everyone knows that the great rush for admission to private heavy-fee charging schools arises purely from the universal erosion of the credibility of the Government schools. Independent surveys invariably reveal the shocking levels of learner (un)attainments, but the system of education apparently remains undisturbed and continue to move at its own snail's pace. See the 'change' indicated in the ASER: In 2009, 52.9 per cent children of class V could read a textbook of class II; it dropped down to 47 per cent in 2013.

The percentage of children in class III who could do subtraction declined from 36.5 in 2009 to 18.9 in 2013. These two examples are sufficient to illustrate how deeply entrenched is the injustice being inflicted on a large number of children by those who have no problems in putting their own children in private schools in India or even abroad. ASER findings only confirm the public perceptions. India participated in the first phase of the Programme of International School Assessment, sponsored by the OECD. As it was poorly placed in learner attainments, the Government just backed out of participation in its next phase.

The private schools, too, just cannot remain happy in isolation. Convinced of assured returns, investors are flocking in to the system and the billboards claiming to be world school and international school could be seen in ever-increasing numbers. The percentage of private schools has risen from



Everyone knows that the great rush for admission to private heavy-fee charging schools arises purely from the universal erosion of the credibility of the Government schools. Independent surveys invariably reveal the shocking levels of learner (un)attainments, but the system of education apparently remains undisturbed and continue to move at its own snail's pace.



18.7 in the year 2006 to 29 in 2013. True to the adage that expansion, if not planned on principles and precautions leads to quality dilution the quality decline in these schools quality decline is also visible.

During the period 2010 to 2013, the percentage of children of class III who could do subtraction, declined from 47.8 per cent to 44.6 per cent. While in the Government sector, it is the work culture and absence of accountability that leads to systemic decline, in the private sector, too much focus on dividends collect maximum and spend minimum results in quality decline. The closure of hundreds of institutions of engineering and management is the most



illustrative example of the developing scenario in education. The chronic shortage of the teachers, right from schools to IITs and IIMs is another factor that generates severe quality-impeding concerns. The plight of parents of the children in Government schools is rather two-fold. First, they are from the category that just cannot manage the high fee structures of private schools. Second, because of non-availability of teachers in Government schools, they are forced to spend extra sums on tuitions. In Bihar only 91.6 per cent children go to Government schools and it results in 52 per cent of them getting tuitions. Incidentally, most of those who could afford send their children outside Bihar for school education and also for higher studies. In Uttar Pradesh enrolment in private schools is around 50 per cent and consequently, only 14 per cent children go for tuitions.

In the quality context, another factor that deserves serious attention pertains to political interference in various aspects education, including even the examination results. Many

would remember huge hoardings put up by the previous Government of Delhi which claimed that in 2001 the Board pass percentage was only 50, in 2013 it was 99.4 per cent. Personal interaction with several Government school teachers reflected their personal anguish: They were under instructions to ensure that results must be hundred per cent.

Union Minister Kapil Sibal had announced a 'no fail' policy up to class VIII and made 10th Board examination optional. Delhi Government unofficially extended it to Board examinations just to score a political point, in which it failed miserably. A majority of the children would get the equality of opportunity only when Government educational institutions in rural India and small towns provide easy and affordable access to higher and professional education for the willing and deserving. It requires a visionary leadership willing to take bold decisions.

Courtesy :- The Pioneer)

- "Pleasure in the job puts perfection in the work."
– **Aristotle**
- "God helps those who help themselves."
– **Benjamin Franklin**
- "That some achieve great success is proof to all that others can achieve it as well."
– **Abraham Lincoln**



Child abuse: Prevention is cure

● Team Viva

Being child and childhood are two wonderful periods of one's life which if handled with utmost care and delicateness could grow into wonderful lives. But sometimes due to improper treatment and under poor environment innocent lives become subject to child abuse. Negligence from parents, physical, sexual or psychological abuse are just a few example of child abuse.

C hild abuse consists of any act of commission or omission that endangers or impairs a child's physical or emotional health and development. Child abuse includes any damage done to a child which cannot be reasonably explained and which is often represented by an injury or series of injuries appearing to be non-accidental in nature.


There are different forms of child abuse. These include neglect, sexual, physical and emotional abuse. Serious psychological harm can occur where the behavior of their parent or caregiver damages the confidence and self-esteem of the child or young person, resulting in serious emotional deprivation or trauma.

Although it is possible for 'one-off' incidents to cause serious harm, in general it is the frequency, persistence and duration of the parental or carer behavior that is instrumental in defining the consequences for the child. This can include a range of behaviors such as excessive criticism, withholding affection, exposure to domestic violence, intimidation or threatening behavior.


There are common physical and behavioral signs that may indicate abuse or neglect. Other things need to be considered, such as the circumstances of the child or family. When considering if a child or young person has been abused or neglected or it at risk of this, it is important to keep in mind the life circumstances of the child, young person and their family.

The consequences of child maltreatment can be profound and may endure long after the abuse or neglect occurs. The effects can appear in childhood, adolescence, or adulthood, and may affect various aspects of an individual's development (e.g., physical, cognitive, psychological and behavioral). These effects range in consequence from minor physical injuries, low self-esteem, attention disorders, and poor peer relations to severe brain damage, extremely violent behavior and death.

While substantial evidence exists for the negative consequences of maltreatment, practitioners should be aware of the limitations of current research. First, many research efforts have studied the effects of



Further, many early studies examining consequences did not compare outcomes among maltreated individuals with outcomes among individuals who had not experienced maltreatment. In addition studies often rely on official records or self-reporting of current or past child maltreatment, both of which may undercount the true prevalence of maltreatment.



child maltreatment among individuals from lower socio-economics back grounds, prison populations, mental health patients or other clinical populations who may exhibit the most serious behavior problems and whose families often have had many other problems (e.g. poverty, parental substance abuse, domestic violence).

Further, many early studies examining consequences did not compare outcomes among maltreated individuals with outcomes

among individuals who had not experienced maltreatment. In addition studies often rely on official records or self-reporting of current or past child maltreatment, both of which may undercount the true prevalence of maltreatment. Finally, the nature and extent of maltreatment are different for each child and family and these differences may influence the consequences.

Despite the above challenges, it is still possible to identify effects that have been more commonly associated with individuals who have experienced abuse and neglect. These effects are discussed in the sections that follow as they relate to three overlapping areas:

- Health and physical effects/.
- Intellectual and cognitive development.
- Emotional, psychological and behavioral consequences.

While maltreated children have a higher risk of certain problems, it can-not be concluded that any given consequence will always occur. Not all children who have maltreated will suffer severe consequences. A number of factors may influence the effects of maltreatment, including the child's age and developmental status at the type, the frequency, the duration, and the severity of the maltreatment and co-occurring problems. In addition, research has identified certain protective factors that mediate the effects of maltreatment.

Child abuse and neglect have been shown to cause important regions of the brain to fail to form or grow properly, resulting in impaired development. These alternations in brain maturation have long-term consequences for



cognitive, language, and academic abilities and are connected with mental health disorders. Disrupted neurodevelopment as a result of maltreatment can cause children to adopt a persistent fear state as well as attributes that are more normally helpful during threatening moments but counterproductive in the absence of threats, such as hyper vigilance, anxiety and behavior impulsivity.

While child abuse and neglect usually occur within the family, the impact does not end there. Society as a whole pays a price for child abuse and neglect, in terms of both direct and indirect costs. The immediate emotional effects of abuse and neglect - isolation, fear and an inability to trust - can translate into life-long psychological consequences, including low self-esteem, depression and relationship difficulties.

Experiencing childhood trauma and adversity such as physical or sexual abuse, is a risk factor for borderline personality disorder, depression, anxiety and other psychiatric disorders. Child maltreatment also negatively impacts the development of emotion regulation, which often persists into adolescence or adulthood.

Abusive parents often have experienced abuse during their own childhoods. According to a research, girls who experienced childhood physical abuse were 1-7 percent more likely to become perpetrators of youth violence and 8-10 percent more likely to become perpetrators of youth violence and 8-10 percent more likely to be perpetrators of interpersonal violence (IPV). Boys who experienced childhood sexual violence were 3-12 percent

more likely to commit youth violence and 1-17 percent more likely to commit IPV.

Adults who experienced abuse or neglect during childhood are more likely to suffer from cardiovascular disease, lung and liver disease, hypertension, diabetes, asthma and obesity. One study showed that children who experienced neglect were at increased risk for diabetes and poorer lung functioning, while physical abuse was shown to increase the risk for diabetes and malnutrition. Additionally, child maltreatment has been shown to increase adolescent obesity. A study found that children who experienced neglect had body mass indexes that grew at significantly faster rates compared to children who had not experienced neglect.

While the priority is to prevent child abuse and neglect from occurring, it is equally important to respond to those children and adults who have experienced abuse and neglect. Consequences may be mild or severe; disappear after a short period or last a lifetime; and affect the child physically, psychologically, behaviorally or in some combination of all three ways.

Ultimately, due to related costs to public entities such as the healthcare, human services and educational systems, abuse and neglect impact not just the child and family but society as a whole. Therefore, it is imperative for communities to provide a framework of prevention strategies and services before abuse and neglect occur and to be prepared to offer remediation and treatment when necessary.

Courtesy :- The Pioneer)



VICTIMS, VICTIMIZATION AND VICTIMOLOGY

“Victims” means persons who, individually or collectively, have suffered harm, including physical or mental injury, emotional suffering, economic loss or substantial impairment of their fundamental rights, through acts or omissions that are in violation of criminal laws operative within Member States, including those laws proscribing criminal abuse of power.

A person may be considered a victim, under this Declaration, regardless of whether the perpetrator is identified, apprehended, prosecuted or convicted and regardless of the familial relationship between the perpetrator and the victim. The term “victim” also includes, where appropriate, the immediate family or dependants of the direct victim and persons who have suffered harm in intervening to assist victims in distress or to prevent victimization.

The dictionary meaning of victim is:

1. A person who suffers from a destructive or injurious action or agency: a victim of an automobile accident.
2. A person who is deceived or cheated, as by his or her own emotions or ignorance, by the dishonesty of others, or by some impersonal agency: a victim of misplaced confidence; the victim of a swindler; a victim of an optical illusion.
3. A person or animal sacrificed or regarded as sacrificed: war victims.
4. A living creature sacrificed in religious rites.

In short victim is a person who has suffered due to any of the reasons. There are provisions

of relating to compensation to the victim, but the major question is that whether it is only on paper or it works. Any person victim of crime needs a lot of time to recollect himself from that particular incident which takes place in his life.

Victimization

There is a large body of evidence that demonstrates a close relationship between offending and victimization. One reason for this is that some kinds of crime arise out of mutual interactions between people, to the extent that victims and offenders are almost interchangeable: the clearest example would be fights in and around pubs on a Saturday night. Even where crimes do not arise immediately out of interpersonal interactions, people often tend to commit offences on others within their social circle, because these people are most accessible to them, or because they are paying off an old score.

This way we can say that victimization is the relation between victim and the accused, there is no exact definition available on it. There are different theories of victimization which are as follows:

- Primary victimization



- Secondary victimization (post crime victimization)
- Re-victimization (repeatedly became the victim)
- Self-victimization (variety of reason to justify abuse)

Victimology

Victimology is the scientific study of victimization, which include the relationship between victim and the accuse. Justice J.N.Bhatt has defined Victimology: victimology is a science of suffering and resultant compensation.

The dictionary meaning of victimology is as follow:

The study of the victims of crime and the psychological effects on them of their experience. The possession of an outlook, arising from real or imagined victimization, that seems to glorify and indulge the state of being a victim.

As it is mentioned in the meaning itself that it is psychology of the victim but it directly related to the behavior of the offender or the accuse. The theory of victimology deals with this aspect very well.

Impact of crime

One in four citizens are victims of common crime each year In the last century, trends in crime were measured by the number of persons convicted in criminal courts. Then trends were measured using the number of crimes recorded by the police. Today, trends in crime are measured also by surveys of the general population to estimate the level of victimization.

The information provided by these surveys shows that victimization is a frequent occurrence, involving loss, injury and trauma. It shows that police and particularly court data underestimated the extent of crime.



The impact of crime is perhaps best thought of as a product of the perceived seriousness or intensity of these effects plus their duration from the victim's own standpoint. Defined in this way, the term refers to an inescapably subjective assessment and evaluation by the victim of the overall consequences of the offence. This includes its meaning and significance for the victim, and whether or not it has resulted in a change of self-perception by which the victim comes to perceive himself or herself as a victim.



Crime affects the individual victims and their families. Many crimes also cause significant financial loss to the victims. The impact of crime on the victims and their families ranges from serious physical and psychological injuries to mild disturbances. The Canadian Centre of Justice Statistics states that about one third of violent crimes resulted in victims having their day-to-day activities disrupted for a period of one day (31%), while in 27% of incidents, the disruption lasted for two to three days (Aucoin & Beauchamp, 2007).

In 18% of cases, victims could not attend to their routine for more than two weeks. A majority of incidents caused emotional impact (78%). Irrespective of the type of victimization,



The UN Declaration on Basic Principles of Justice for Victims of Crime and Abuse of Power draws attention to the fact that crime is not just a violation of a criminal code but also causes harm to victims, including economic loss, emotional suffering and physical or mental injury.

one-fifth of the victims felt upset and expressed confusion and or frustration due to their victimization. Overall, victims felt less safe than non-victims. For example, only a smaller proportion of violent crime victims (37%) reported feeling very safe walking alone after dark than non-victims (46%). Just less than one-fifth (18%) of women who had been victims of violence reported feeling very safe walking alone after dark when compared to their male counterparts.

The impact of crime is perhaps best thought of as a product of the perceived seriousness or intensity of these effects plus their duration from the victim's own standpoint. Defined in this way, the term refers to an inescapably subjective assessment and evaluation by the victim of the overall consequences of the offence. This includes its meaning and significance for the victim, and whether or not it has resulted in a

change of self-perception by which the victim comes to perceive himself or herself as a victim. Thus, the 'impact' of a crime has a crucial bearing on the way the victim interprets and responds to it during the second phase of the victimization process, as distinct from whatever tangible or intangible 'effects' may be associated with the primary phase. Unfortunately, most researchers have tended to conflate these two terms and to treat them as interchangeable, which has added to the methodological problems mentioned above, though it might help to account for the seemingly confused nature of many of the findings.

The UN Declaration on Basic Principles of Justice for Victims of Crime and Abuse of Power draws attention to the fact that crime is not just a violation of a criminal code but also causes harm to victims, including economic loss, emotional suffering and physical or mental injury.

The UN Handbook divides the impact of crime on victims into:

- The physical and financial impact of victimization
- Psychological injury and social cost
- Secondary victimization" from the criminal justice system and society.

Victim and criminal justice system

India's criminal justice system is from the British criminal justice system. There is a clear Doctrine separation of power by the Legislature, Executive, and Judiciary. The judiciary is independent and there is a free press. The penal philosophy in India has accepted the concepts of prevention of crime and treatment and rehabilitation of criminals, which we can see by many judgments of the Supreme Court and High Court of India.



Victims have no rights under the criminal justice system, and the state undertakes the full responsibility to prosecute and punish the offenders by treating the victims as mere witnesses.

Constitution, Criminal Law and Procedure:

The Indian criminal justice system is governed overall by four laws:

- (i) The Constitution of India
- (ii) The Indian Penal Code
- (iii) The Code of Criminal Procedure of India
- (iv) The Indian Evidence Act

The legislative power is vested with the Union Parliament and the state legislatures and the law-making functions are divided into the Union List, State List and Concurrent List in the Indian Constitution. The Union Parliament alone can make laws under the Union list and the state legislatures alone can make laws under the State list, whereas both the Parliament and the State Legislatures are empowered to make laws on the subjects mentioned in the Concurrent List of the Constitution.

The Constitution of India guarantees certain fundamental rights to all citizens. Under the Constitution, criminal jurisdiction belongs concurrently to the central government and the governments of all the states. At the national level, two major criminal codes, the Indian Penal Code, 1861 and the Code of Criminal Procedure, 1973, deal with all substantive crimes and their punishments, and the criminal procedure respectively to be followed by the criminal justice agencies, i.e. the police, prosecution and judiciary during the process of investigation, prosecution and trial of an offence.

These two criminal laws are applicable throughout India and take precedence over any state legislation. All major offences are defined in the Indian Penal Code and these apply to resident foreigners and citizens alike. Besides the Indian Penal Code, many special laws have also been enacted to tackle new crimes. The Indian criminal justice system has four subsystems which include: Legislature, (Union Parliament and State Legislatures), Law enforcement (Police), Adjudication (Courts), and Corrections (adult and juvenile correctional institutions, Probation and other non institutional treatment). The legal system in India is adversarial.

Victimization

Perhaps the first theory to explain victimization was developed by Wolfgang in his study of murders in Philadelphia. Victim precipitation theory argues that there are victims who actually initiated the confrontation that led to their injuries and deaths. Although this was the result of the study of only one type of crime, the idea was first raised that victims also might play a role in the criminal activity.

Victimization is a highly complex process encompassing a number of possible elements. The first element (often referred to as 'primary victimization') comprises whatever interaction may have taken place between offender and 'victim' during the commission of the offence, plus any after effects arising from this interaction or from the offence itself.

The second element encompasses 'the victim's' reaction to the offence, including any change in self-perception that may result from it, plus any formal response that s/he may choose to make to it. The third element consists of any further interactions that may



take place between 'the victim' and others, including the various criminal justice agencies with whom s/he may come into contact as a result of this response. Where this interaction has a further negative impact on the victim, it is often referred to as 'secondary victimization'.

Primary victimization

The 'primary victimization' phase of the process, it may be helpful to begin by distinguishing between the 'effects' or consequences that are known to result from crimes of different kinds and their 'impact' on victims themselves. Certain crimes entail physical effects, which are likely to involve some degree of pain and suffering, and may also entail loss of dexterity, some degree of incapacity and/or possible temporary or permanent disfigurement.

Many crimes also have financial effects, which may be either direct. Very often crime can result in additional costs that might be incurred, for example, in seeking medical treatment or legal advice, or loss of income as a result of attending to the crime and its aftermath, or possible loss of future earning potential. Certain crimes can also have psychological and emotional effects upon victims including depression, anxiety and fear, all of which can adversely affect their quality of life.

Secondary victimization

Secondary victimization refers to the victimization that occurs not as a direct result of the criminal act but through the response of institutions and individuals to the victim. Institutionalized secondary victimization is most apparent within the criminal justice system. At times it may amount to a complete denial of human rights to victims from particular cultural groups, classes or a particular gender, through a refusal to

recognize their experience as criminal victimization.

It may result from intrusive or inappropriate conduct by police or other criminal justice personnel. More subtly, the whole process of criminal investigation and trial may cause secondary victimization, from investigation, through decisions on whether or not to prosecute, the trial itself and the sentencing of the offender, to his or her eventual release.

Secondary victimization through the process of criminal justice may occur because of difficulties in balancing the rights of the victim against the rights of the accused or the offender. More normally, however, it occurs because those responsible for ordering criminal justice processes and procedures do so without taking into account the perspective of the victim.

Re – victimization

Crime is not distributed randomly. According to a recent estimate, based on data from the British Crime Survey, 44% of all crime is concentrated on 4% of victims. (Farrell and Pease, 2001) The following table shows the proportion of victims in this source who will be a victim of a similar offence within a year of the event.

Some of the repeat victimization is due to the victim living or being associated with the offender. Wife battering tends to happen more than once to the same victim who continues to live with the same man. This is also true of sexual incidents.

Some of the repeat victimization in property offences is due to the location of the victim or their residence. Those who live close to a concentration of potential offenders in residences that are unprotected are particularly at risk of repeat victimization.

Repeat victimization is disillusioning to



victims who report their experience to the police and the criminal justice system because they were not protected. Being victimized a second time increases the psychological trauma of the event.

Self victimization

In this category person himself commits such act which result in his own victimization we can say up to certain extent that it can be included in repeat victimization only as it result from wrong persons company, wrong habit, etc.

Victimology

Diverse views exist on the focus and place of the discipline of Victimology. While some believe that Victimology should function as an independent area of enquiry, others view it as a subfield of Criminology. A second issue concerns the breadth of victim related issues to be covered in the field of Victimology. Some scholars advocate that Victimology should limit itself to the study of victim-offender interaction. Others argue that the needs of crime victims, functioning of the organizations and institutions which respond to these needs, and the emerging roles and responsibility for crime victims within the CJS are important areas of inquiry for Victimology.

A third issue is the breadth of the definition of the term 'victim'. One approach is to limit the concept to victims of traditional crimes such as murder, rape, robbery, burglary etc. However, it has also been proposed to include a broader definition of the concept by covering groups such as prisoners, immigrants, subjects of medical experimentation, and persons charged with crime but not proved guilty.

Evolution of Victimology in India

At present, a crime victim or a complainant is only a witness for the prosecution. Whereas the accused has several rights, the

victim has no right to protect his or her interest during criminal proceedings. Sometimes, even the registering of a criminal case in the police station depends upon the mercy of the police officer: victims suffer injustice silently and in extreme cases, take the law into their own hands and seek revenge on the offender.

Though no separate law for victims of crime has yet been enacted in India, the silver lining is that victim justice has been rendered through affirmative action and orders of the apex court. Besides, many national level Commissions and Committees have strongly advocated victims' rights and reiterated the need for a victims' law.

Studies on crime victims by researchers started in India only during the late 1970s. Early studies were on victims of dacoit gangs (i.e. gangs of armed robbers) in the Chambal valley (Singh, 1978); victims of homicide (Rajan & Krishna, 1981); and victims of motor vehicles accidents (Khan & Krishna, 1981). Singh and Jatar (1980) studied whether compensation paid to victims of dacoits in Chambal Valley was satisfactory or not. Since the 1980s, many scholars have conducted studies in Victimology, which have been published.

Theory of victimology

The concept of victim dates back to ancient cultures and civilizations, such as the ancient Hebrews. Its original meaning was rooted in the idea of sacrifice or scapegoat the execution or casting out of a person or animal to satisfy a deity or hierarchy. Over the centuries, the word victim came to have additional meanings.

During the founding of victimology in the 1940s, victimologists such as Mendel son, Von Hentig, and Wolfgang tended to use textbook or dictionary definitions of victims as hapless dupes who instigated their own



victimizations. This notion of “victim precipitation” was vigorously attacked by feminists in the 1980s, and was replaced by the notion of victims as anyone caught up in an asymmetric relationship or situation. “Asymmetry” means anything unbalanced, exploitative, parasitical, oppressive, destructive, alienating, or having inherent suffering. In this view, victimology is all about power differentials.

Today, the concept of victim includes any person who experiences injury, loss, or hardship due to any cause. Also today, the word victim is used rather indiscriminately; e.g., cancer victims, holocaust victims, accident victims, victims of injustice, hurricane victims, crime victims, and others. The thing that all these usages have in common is an image of someone who has suffered injury and harm by forces beyond his or her control.

Conclusion

There are various laws relating to victim and their protection. Now big question before us is its implementation. There is a provision of compensation and protection of victim but the question is whether this is sufficient for victim.

For example if a person is killed by other person and the person who died is the only bread earner in his family then what is the amount of compensation is to be paid to his family member. In one of the case Indian Supreme court in case of death of a person order the compensation of only 1.5 lakh and

that also after 5 to 6 year of commission of crime (SR 6197/2012). Now can we consider it as a proper order? According to UN declaration there should be law on it and that is the reason for which India has made law for victims. The Indian criminal justice system is mostly emphasized on the accuse only and not victim, which we can see.

The victimization is relation between victim and offender, and victimology is a science of study of victimization. When we see that there is direct relation between offender and victim it is very difficult to protect the victim from the offender and I personally think that this is the only reason for very low rate of conviction in our country. There are various countries in which the victim protection program is going on and the result is very good as there is no scope of any temporizing the victim or witness. If victim feel themselves safe then only they can speak in courts. When victim is easily approached by the offender it is really difficult to work even police is not taking proper note of this issues.

When person is suffering from such mental trauma it is very difficult to work with them and so we have to study the science behind it. And by using the scientific method we can get the result and make some good for the victim. If we take a serious note of it then our criminal justice system will improve a lot and will bring some positive change in governance of the nation.

Compiled by : Research Officer , MPHRC

Source : <http://www.legalservicesindia.com>